[2010] 3 उम. नि. प. 529

बी. पी. सिंघल

बनाम

भारत संघ और एक अन्य

7 मई, 2010

मुख्य न्यायमूर्ति के. जी. बालाकृष्णन्, न्यायमूर्ति एस. एच. कपाड़िया, न्यायमूर्ति आर. वी. रवीन्द्रन, न्यायमूर्ति बी. सुदर्शन रेड्डी और न्यायमूर्ति पी. सदाशिवम्

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 32 – लोक हित मुकदमा – रिट याचिका – संधार्यता – समयपूर्व पद से हटाए गए राज्यपालों के लिए अनुतोष की ईप्सा करने वाली याची की रिट याचिका की संधार्यता – व्यष्टिक राज्यपालों के फायदे के लिए अनुतोष का दावा करने संबंधी याचिका संधार्य नहीं है किन्तु याची को अनुच्छेद 156(1) की परिधि और प्रसाद के सिद्धांत की परिसीमाओं से संबंधित लोक महत्व के सामान्य प्रश्न के संबंध में सुने जाने का अधिकार प्राप्त है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 156 – राज्यपाल की पदावधि – राज्यपाल का राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करना – राष्ट्रपति के प्रसाद के प्रत्याहरण पर राज्यपाल का पद से हटाया जाना – न्यायिक पुनर्विलोकन – राज्यपालों को हटाने की शक्ति की परिसीमाएं – यद्यपि राष्ट्रपति किसी राज्यपाल को किसी भी समय कोई कारण बताए बिना और कारण दर्शाने का कोई अवसर दिए बिना पद से हटा सकता है तथापि, अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग विरल और आपवादिक परिस्थितियों में तथा विधिमान्य और बाध्यकारी कारणों से किया जाना चाहिए और यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि वे बाध्यकारी कारण कौन-से होंगे ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 156 – राज्यपाल का हटाया जाना – प्रसाद का सिद्धांत – न्यायिक पुनर्विलोकन – किसी राज्यपाल को इस आधार पर नहीं हटाया जा सकता कि वह संघ सरकार या केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की नीतियों और विचाराधारा के अनुकूल कार्य नहीं करता है, इसलिए केन्द्र में सत्ता-परिवर्तन राज्यपालों को पद से हटाने का कोई आधार नहीं है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 156 – राज्यपाल का हटाया जाना – प्रसाद का सिद्धांत – न्यायिक पुनर्विलोकन – चूंकि राज्यपाल को पद से हटाने के लिए कारण बताना आवश्यक नहीं है इसलिए राष्ट्रपति द्वारा प्रसाद के प्रत्याहरण के परिणामस्वरूप राज्यपाल का हटाया जाना विधिमान्य होगा और वह सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होगा – यदि व्यथित व्यक्ति प्रथमदृष्ट्या यह प्रदर्शित करने में समर्थ हो जाता है कि उसे मनमानी, असद्भाविक, सनकपूर्ण और स्वेच्छाचारी रीति से हटाया गया है तो न्यायालय संघ सरकार से उस सामग्री को प्रकट करने की अपेक्षा करेगा जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने प्रसाद के प्रत्याहरण का विनिश्चय किया था और यदि संघ सरकार कोई कारण प्रकट नहीं करती है या प्रकट किए गए कारण असंगत, मनमाने, असद्भाविक पाए जाते हैं तो न्यायालय हस्तक्षेप करेगा किन्तु न्यायालय मात्र इस आधार पर हस्तक्षेप नहीं करेगा कि कोई पृथक् दृष्टिकोण संभव है या यह कि सामग्री या कारण अपर्याप्त हैं ।

भारत के राष्ट्रपति ने केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् की सलाह पर तारीख 2 जुलाई, 2004 को उत्तर प्रदेश, गुजरात, हरियाणा और गोवा के राज्यपालों को अपने-अपने पदों से हटा दिया था । राज्यपालों को हटाए जाने के परिणामस्वरूप उच्चतम न्यायालय के समक्ष रिट याचिका फाइल की गई थी जिसमें संविधान के अनुच्छेद 156 के निर्वचन से संबंधित लोक महत्व का प्रश्न अंतर्वलित था । याची ने यह निवेदन किया कि राज्यपालों की स्वतंत्रता और उनके प्रभावी कार्यकरण को सुनिश्चित करने के लिए कतिपय सुरक्षोपायों को अनुच्छेद 156(1) के अधीन राज्यपालों को हटाने की शक्ति पर परिसीमाओं के रूप में माना जाना चाहिए चूंकि अनुच्छेद 156(1) में यह उपबंधित है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । राज्यपालों की पदावधि की कुछ निश्चितता होनी चाहिए जिससे कि राज्यपाल अपने सांविधानिक पद से संबंधित कर्तव्यों और कृत्यों का निर्वहन प्रभावी और स्वतंत्र रूप से कर सकें और पदावधि की यह निश्चितता उन्हें पद से हटाने के मापदंड नियत करके लाई जा सकती है । याची ने आगे यह निवेदन किया कि राष्ट्रपति के उन्मुक्त विवेकाधिकार को मान्यता देने से राज्यपाल न केवल निरुत्साहित हो जाएगा बल्कि उसे हटाए जाने की निरंतर आशंका बनी रहेगी और वह संघ सरकार के अधीनस्थ हो जाएगा । इसलिए उसने यह निवेदन किया कि राज्यपाल का हटाया जाना सांविधानिक मापदंडों के अनुरूप होना चाहिए, अर्थात् (1) राज्यपाल को विरल और आपवादिक परिस्थितियों में उन बाध्यकारी कारणों

से हटाया जाना चाहिए जो उसे पद में बने रहने के लिए अनुपयुक्त बनाते हैं, (2) राज्यपाल को हटाए जाने के कारणों से अवगत कराया जाना चाहिए, और (3) राज्यपाल को पद से हटाने संबंधी आदेश न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होना चाहिए । प्रत्यर्थी-भारत संघ की ओर से उपस्थित होने वाले महान्यायवादी की ओर से रिट याचिका की संधार्यता के संबंध में प्रारंभिक आक्षेप उठाया गया । उन्होंने यह दलील दी कि यदि वे चार राज्यपाल, जिन्हें पद से हटाया गया है, किसी अनुतोष की ईप्सा करना नहीं चाहते और उन्होंने किसी विरोध के बिना अपना पद से हटाया जाना स्वीकार कर लिया है तो जनता का कोई भी सदस्य उन्हें अनुतोष देने के लिए लोक हित मुकदमा नहीं ला सकता है । तथापि, महान्यायवादी ने गुणागुण के आधार पर यह दलील दी कि राज्यपाल को हटाने का कोई क़ारण होना चाहिए किन्तु ऐसा कारण संसूचित करना आवश्यक नहीं है । इसके अलावा, यह आवश्यक नहीं है कि राज्यपाल को प्रसाद का सिद्धांत लागू करते हुए हटाए जाने का संबंध राज्यपाल की ओर से किए गए किसी कार्य या लोप से नहीं होता है । उन्होंने यह दलील दी कि यह उपबंध करने का उद्देश्य कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा, यह था कि यदि राष्ट्रपति का राज्यपाल में विश्वास नहीं रहता है उसे किन्हीं कारणों से अनुपयुक्त पाता है तो वह राष्ट्रपतीय प्रसाद को प्रत्याहृत कर सकता है और इसके परिणामस्वरूप राज्यपाल को पद से हटा सकता है । महान्यायवादी ने यह दलील दी कि प्रसाद के सिद्धांत को राज्यपाल की ओर से कोई त्रुटि या कदाचार किए जाने की विनिर्दिष्ट घटनाओं या हटाने के लिए कोई कारण देने या संसूचित करने संबंधी बाध्यता की विवक्षा के आधार पर निर्बंधित नहीं किया जा सकता है । महान्यायवादी ने यह दलील दी कि लोकतंत्र में राजनैतिक दल आपसी विश्वास पर बनते हैं और वे एक घोषित कार्यक्रम के साथ निर्वाचन लड़ते हैं और यदि कोई दल, जो किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर सत्ता में आता है, यह पाता है कि कोई राज्यपाल उसकी नीतियों के अनुरूप कार्य नहीं करता है तो वह ऐसे राज्यपाल को हटाने में समर्थ होना चाहिए । महान्यायवादी ने यह दलील दी कि यदि राष्ट्रपति को किसी राज्यपाल में विश्वास नहीं रहता है या वह यह पाता है कि वह राज्यपाल लोकतंत्रात्मक और निर्वाचन की आज्ञा के अनुरूप कार्य नहीं कर रहा है तो संघ सरकार को ऐसे राज्यपाल को कोई दोष बताए बिना हटाने का अधिकार होता है । अतः, इस मामले में ये प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुए - (i) क्या याचिका संधार्य है ? (ii) "प्रसाद के सिद्धांत" की परिधि क्या है ? (iii) संविधान के

अधीन राज्यपाल की स्थिति क्या है ? (iv) क्या भारत के संविधान के अनुच्छेद 156(1) के अधीन प्रयोग की जाने वाली शक्ति पर कोई अभिव्यक्त या विवक्षित परिसीमाएं/निर्बंधन हैं ? (v) क्या प्रसाद के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए राज्यपालों का हटाया जाना न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है ? उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका का निपटारा करते हुए और अंतरण याचिका खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – याची को उन प्रार्थनाओं के संबंध में याचिका फाइल करने का कोई अधिकार नहीं है जिसमें व्यष्टिक राज्यपालों के फायदे के लिए अनुतोष का दावा किया गया है । सभी परिस्थितियों में, ऐसी प्रार्थनाएं समय के व्यतीत होने के कारण अब कायम नहीं रहती हैं । तथापि, जहां तक संविधान पीठ को निर्देशित लोक महत्व के उस साधारण प्रश्न का संबंध है, जिसमें अनुच्छेद 156(1) की परिधि और प्रसाद के सिद्धांत की परिसीमाओं पर प्रकाश डाला गया है, याची को आवश्यक रूप से सुने जाने का अधिकार है । (पैरा 11)

प्रसाद के सिद्धांत का उद्भव आंग्ल विधि में क्राउन के अधीन लोक सेवकों की पदावधि के प्रति निर्देश से हुआ है । सामंती ढांचे में यथा-विद्यमान प्रसाद के सिद्धांत और विधि के नियम द्वारा शासित किसी लोकतंत्र में प्रसाद के सिद्धांत के बीच विभेद है । उन्नीसवीं शताब्दी के सामंती ढांचे में क्राउन की उन्मुक्त शक्ति और विवेकाधिकार कोई नई धारणा नहीं थी । तथापि, विधि के नियम द्वारा शासित लोकतंत्र में, जहां किसी भी रूप में मनमानेपन का परिहार किया जाता है, किसी भी सरकार या प्राधिकारी को अपनी पसन्द के अनुसार कार्य करने का अधिकार नहीं है । प्रसाद के सिद्धांत का अभिप्राय मनमाने, सनकी या स्वेच्छाचारी रूप से कार्य करने की अनुज्ञप्ति नहीं है । यह उपधारणा की जाती है कि किसी लोक प्राधिकारी को आत्यांतिक और उन्मुक्त निबंधनों में प्रदत्त वैवेकिक शक्तियों का प्रयोग आवश्यकतः और स्पष्टतः युक्तियुक्त रूप से और लोक भलाई के लिए किया जाएगा । यह उल्लेख करना किंचित सुसंगत है कि 'प्रसाद का सिद्धांत' अपने आत्यांतिक अनिर्बंधित उपयोग में भारत में विद्यमान नहीं है । सरकारी नियोजन की दशा में उक्त सिद्धांत का कठोरतापूर्वक अल्पीकरण किया गया है, जैसा कि अनुच्छेद 310 के खंड (2) और अनुच्छेद 311 के खंड (1) और खंड (2) से प्रकट होगा । अनुच्छेद 311 के खंड (2) के परन्तुक के अंतर्गत आने वाले मामलों के संबंध में भी इस सिद्धांत का लागू किया जाना अनिर्बंधित नहीं है किन्तु इस

अर्थ में संयत रूप से निर्बंधित है कि उसमें उल्लिखित परिस्थितियां उसके प्रवर्तन के लिए विद्यमान होनी चाहिएं । संविधान में राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त धारित पदों (निर्बंधन रहित), राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त धारित पदों (निर्बंधन सहित) और ऐसी नियुक्तियों के प्रति निर्देश किया गया है जिन्हें उक्त सिद्धांत लागू नहीं होता है । भारत के संविधान के वे अनुच्छेद, जिनमें किन्हीं निर्बंधनों या परिसीमाओं के बिना राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करने के प्रति निर्देश किया गया है, मंत्रियों के संबंध में अनुच्छेद 75(2), महान्यायवादी के संबंध में अनुच्छेद 76(4) और राज्यपालों के संबंध में अनुच्छेद 156(1) हैं । इसी प्रकार, अनुच्छेद 164(1) और अनुच्छेद 165(3) में यह उपबंधित है कि मंत्री (राज्यों में) और राज्य का महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे । अनुच्छेद 311 के साथ पठित अनुच्छेद 310 में निर्बंधनों के अधीन रहते हुए 'प्रसादपर्यन्त' सिद्धांत लागू करने के उदाहरण का उपबंध किया गया है । अनुच्छेद 310 के खंड (1) का संबंध संघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की पदावधि प्रसाद के सिद्धांत के अध्यधीन होने के संबंध में है । तथापि, अनुच्छेद 310 का खंड (2) और अनुच्छेद 311 अनुच्छेद 310(1) में अंतर्विष्ट 'प्रसादपर्यन्त' सिद्धांत के प्रवर्तन को निर्बंधित करता है । (पैरा 12,13,15,18 और 19)

इस प्रकार, भारत के संविधान में तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यकालों के लिए उपबंध है : (i) वे व्यक्ति जो राष्ट्रपति (या राज्यपाल) के प्रसादपर्यन्त पद धारित करते हैं; (ii) वे व्यक्ति जो निर्बंधनों के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति (या राज्यपाल) के प्रसादपर्यन्त पद धारित करते हैं; (iii) वे व्यक्ति जो विनिर्दिष्ट कालावधि के लिए पद धारित करते हैं और महाभियोग के सिवाय हटाए जाने से उन्मुक्त होते हैं, जो कि प्रसाद के सिद्धांत के अधीन नहीं होते हैं । संविधान सभा की बहस से यह स्पष्ट रूप से दर्शित होता है कि विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श करने के पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार के पदों के संबंध में हटाए जाने के विरुद्ध विभिन्न स्तरों के संरक्षण अंगीकृत किए गए थे । हम उन्हें सुविधापूर्वक प्रगणित कर सकते हैं : (i) वे पद जिन्हें प्रसाद का सिद्धांत किन्हीं निर्बंधनों के बिना आत्यांतिक रूप से लागू होता है (मंत्री, राज्यपाल, महान्यायवादी और महाधिवक्ता); (ii) वे पद जिन्हें प्रसाद का सिद्धांत निर्बंधनों सहित लागू होता है (रक्षा सेवा के सदस्य, संघ की सिविल सेवा के सदस्य, अखिल भारतीय सेवा के सदस्य, रक्षा से संसक्त पदों के और संघ के अधीन किसी सिविल पद के धारक); और (iii) वे पद जिन्हें प्रसाद का सिद्धांत बिल्कुल भी लागू नहीं होता है (राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, भारत का नियंत्रक

और महालेखापरीक्षक, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और निर्वाचन आयुक्त) । सांविधानिक स्कीम को ध्यान में रखते हुए, पदों के एक प्रवर्ग को अनुदत्त हटाए जाने से संबंधित संरक्षण के प्रकार को किसी दूसरे प्रवर्ग में मिलाना या वहां तक विस्तारित करना संभव नहीं है । प्रसाद का सिद्धांत, जैसी कि उसकी कल्पना मूल रूप में इंग्लैंड में की गई थी, एक विशेषाधिकार वाली शक्ति थी जो कि उन्मुक्त थी । इसका अभिप्राय यह था कि प्रसाद के अधीन किसी पद के धारक को किसी भी समय, सूचना दिए बिना, कारण बताए बिना और कोई कारण होने की आवश्यकता के बिना हटाया जा सकता था । किन्तु जहां विधि का नियम अभिभावी होता है वहां उन्मुक्त विवेकाधिकार या अनुत्तरदायी कार्रवाई जैसी कोई बात नहीं होती है । आवश्यकता की मात्रा किसी कारण से भिन्न हो सकती है । न्यायिक पुनर्विलोकन के दौरान संवीक्षा की मात्रा भिन्न हो सकती है । किन्तु कारण की आवश्यकता विद्यमान रहती है । परिणामस्वरूप, जब भारत के संविधान में यह उपबंध किया जाता है कि कुछ पद किन्हीं अभिव्यक्त परिसीमाओं या निर्बंधनों के बिना राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त धारित किए जाएंगे वहां तथापि, इसे आवश्यक रूप से इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि वह "संविधानवाद के मूल तत्वों" के अध्यधीन है । अतः, सांविधानिक ढांचे में जब कोई पद किसी प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त धारित किया जाता है, और यदि "प्रसादपर्यन्त" के सिद्धांत के संबंध में कोई परिसीमा या निर्बंधन नहीं लगाया जाता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि पद के धारक को उस प्राधिकारी द्वारा, जिसके प्रसादपर्यन्त वह पद धारण करता है, किसी भी समय सूचना दिए बिना और कोई कारण दर्शाए बिना हटाया जा सकता है । तथापि, प्रसाद का सिद्धांत मनमाने, सनकी या स्वेच्छाचारी रूप में कार्य करने के लिए उन्मुक्त विवेकाधिकार के साथ कार्य करने की अनुज्ञप्ति नहीं है । इससे प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए कारण होने की आवश्यकता को अभिमुक्ति नहीं मिलती । दूसरे शब्दों में, "प्रसादपर्यन्त" सिद्धांत किसी ऐसे व्यक्ति को जो किसी प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त पद धारण किए हुए हैं, संक्षिप्त रूप से कोई सूचना देने या हटाए जाने वाले व्यक्ति की सुनवाई करने की किसी बाध्यता के बिना और हटाए जाने या प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए कोई कारण दर्शाने या कोई कारण प्रकट करने की किसी बाध्यता के बिना पद से हटाने में समर्थ बनाता है । प्रसाद का प्रत्याहरण प्राधिकारी की पसन्द, सनक और कल्पना के आधार पर नहीं हो सकता किन्तु वह केवल विधिमान्य कारणों के आधार पर हो सकती है । (पैरा 21 और 22)

राज्यपाल किसी राज्य के विधानमंडल का एक अभिन्न अंग होता है । उसमें तब अध्यादेश प्रख्यापित करने की विधायी शक्ति निहित होती है जब विधान मंडल के सदन सत्र में नहीं होते हैं । राज्य की कार्यपालक शक्ति उसमें निहित होती है और सरकार की प्रत्येक कार्यपालक कार्रवाई उसके नाम से की जाती है । वह दंड को क्षमा करने, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार करने की संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न शक्ति का प्रयोग करता है । उसमें विधान मंडल के प्रत्येक सदन को आहूत करने या किसी भी सदन का सत्रावसान करने या विधान सभा को विघटित करने की शक्ति निहित है । विधान मंडल के सदनों द्वारा पारित कोई भी विधेयक तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक कि उस पर उसकी अनुमति नहीं प्राप्त हो जाती । जहां उसे यह प्रतीत होता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है वहां उसे एक प्रतिवेदन करना होता है । इस प्रकार, वह एक ऐसा उच्च सांविधानिक पद धारण करता है जिसके महत्वपूर्ण सांविधानिक कृत्य और कर्तव्य होते हैं । इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि राज्यपाल की भूमिका दोहरी होती है । पहली भूमिका राज्य के सांविधानिक प्रमुख की होती है जहां वह अपनी मंत्रिपरिषद् की सलाह से आबद्ध होता है । दूसरी भूमिका संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कृत्य करने की होती है । कतिपय विशेष/आपात स्थितियों में, वह संघ के विशेष प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य कर सकता है । उसे अपनी विभिन्न भूमिकाओं से संबंधित कृत्य प्रत्येक भूमिका की परिधि और क्षेत्र का अवधारण करके सौहार्दपूर्ण रूप से करने होते हैं । वह संघ सरकार का कर्मचारी नहीं होता है और न ही सत्तारूढ़ दल का अभिकर्ता होता है तथा न ही उसे राजनैतिक दलों के आदेशों के अधीन कार्य करना होता है । ऐसे अवसर हो सकते हैं जब उसे संघ सरकार और राज्य सरकारों के विचारों में परस्पर-विरोध होने की दशा में निष्पक्ष या तटस्थ निर्णायक की भूमिका निभानी पड़ती है । उसकी विशिष्ट स्थिति इस तथ्य से उद्भूत होती है कि भारतीय संविधान का स्वरूप परिसंघीयवत् है । भारतीय लोकतंत्र के प्रारंभिक चरण में एक ही राजनैतिक दल केन्द्र तथा राज्यों दोनों में सत्तारूढ़ रहा था । समय के साथ-साथ स्थिति में परिवर्तन आ गया है । अब राज्यों में विभिन्न राजनैतिक दल सत्ता में हैं जिनमें से कुछ राष्ट्रीय और कुछ क्षेत्रीय दल हैं । इसके अलावा, एक ही दल न तो केन्द्र में और न ही राज्य में सत्ता में हो सकता है । सरकार बनाने के लिए भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले विभिन्न दल एक मोर्चे का गठन कर सकते हैं । गठबंधन की राजनीति के उद्भव

के कारण अनेक क्षेत्रीय दलों ने केन्द्र में सत्ता में भागीदारी करना आरंभ कर दिया है । कई बार सत्ता में भागीदारी करने वाले दलों के बीच कोई सांझा कार्यक्रम, घोषणा-पत्र या कार्यसूची भी नहीं होती है । परिणामस्वरूप, राज्य में सत्तारूढ़ किसी राजनैतिक दल का कार्यक्रम या उसकी विचारधारा केन्द्र में गठबंधन सरकार में शामिल राजनैतिक दलों के कार्यक्रम या उनकी विचारधारा के अनुकूल नहीं हो सकती या केन्द्र में गठबंधन सरकार में शामिल कुछ राजनैतिक दलों के कार्यक्रम या उनकी विचारधारा के अनुकूल नहीं हो सकती है किन्तु केन्द्र में गठबंधन सरकार में शामिल कुछ अन्य राजनैतिक दलों के अनुकूल हो सकती है । इसके अलावा, गठबंधन राजनीति की मजबूरियां सत्ता में भागीदार दलों से यह अपेक्षा कर सकती हैं कि वे बारंबार अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में बदलाव करें । गठबंधन की राजनीति के बदलते आधारों में असंख्य नीतियों, विचारधाराओं, कार्यक्रमों की ऐसी पृष्ठभूमि में संघ सरकार के पास ऐसे राज्यपाल होने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता जो उसकी आशाओं और नीतियों के अनुकूल हों । राज्यपालों से सरकार की नीतियों या लोकप्रिय जनादेश को कार्यान्वित करने की प्रत्याशा या अपेक्षा नहीं की जाती है । उनकी सांविधानिक भूमिका स्पष्ट रूप से परिभाषित है और इसमें राजनैतिक असर की गुंजाइश बहुत सीमित है । राज्यपाल संघ सरकार का अभिकर्ता या कर्मचारी नहीं होता है । राज्य के सांविधानिक प्रमुख के रूप में वह कई बार राज्य सरकार के विचारों को अभिव्यक्त कर सकता है जो कि न तो उसके अपने और न ही केन्द्र सरकार के विचार हो सकते हैं (उदाहरणार्थ, जब वह संविधान के अनुच्छेद 176 के अधीन विशेष अभिभाषण देता है) । ऐसे ख्यातिप्राप्त वयोवृद्ध राजनेताओं, योग्य प्रशासकों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को, जो परिपक्व और अनुभवी हैं, राज्यपालों के रूप में नियुक्त करने की प्रत्याशा की जाती है । जबकि उनमें से कुछ राजनीतिक पृष्ठभूमि से आ सकते हैं किन्तु जैसे ही उन्हें राज्यपालों के रूप में नियुक्त कर दिया जाता है वे अपनी निष्ठा और भक्ति संविधान के प्रति रखते हैं न कि किसी राजनैतिक दल के प्रति और उनसे संविधान के परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण की अपेक्षा की जाती है (संविधान के अनुच्छेद 159 के अधीन राज्यपाल द्वारा शपथ या प्रतिज्ञान के निबंधन देखिए) । राष्ट्रपति की भांति राज्यपालों से यह प्रत्याशा की जाती है कि वे गैर-राजनैतिक हों और उनकी पूर्ववर्ती राजनैतिक पृष्ठभूमि चाहे कुछ भी रही हो वे यथार्थतः सांविधानिक कृत्यों का निर्वहन करें । राज्यपाल राजनैतिक रूप से सक्रिय नहीं रह सकते । अतः, प्रत्यर्थियों की यह दलील नामंजूर की जाती है कि

राज्यपाल संघ सरकार की नीतियों के अनुकूल होने चाहिएं या उन्हें केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की विचारधारा का समर्थन करना चाहिए । चूंकि राज्यपाल न तो संघ सरकार का कर्मचारी और न ही अभिकर्ता होता है इसलिए यह दलील भी नामंजूर की जाती है कि किसी राज्यपाल को तब हटाया जा सकता है जब संघ सरकार या सत्तारूढ़ दल उसमें "विश्वास" खो देता है । (पैरा 23, 25 और 26)

अनुच्छेद 156 के पठन मात्र से यह दर्शित होता है कि जब किसी राज्यपाल को नियुक्त किया जाता है तब वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है जिसका अभिप्राय यह है कि राज्यपाल को किसी भी समय सूचना दिए बिना और कोई कारण बतलाए बिना हटाया जा सकता है । राज्यपाल भी किसी भी समय पद से त्यागपत्र दे सकता है । यदि राष्ट्रपति उसे पद से नहीं हटाता है और यदि राज्यपाल त्यागपत्र नहीं देता है तो राज्यपाल की पदावधि उस तारीख से जब वह पदग्रहण करता है, पांच वर्ष के अवसान पर समाप्त हो जाएगी । खंड (3) का आशय अनुच्छेद 156 के खंड (1) के अधीन राज्यपाल को किसी भी समय हटाने की शक्ति पर निर्बंधन लगाना या उसे परिसीमित करना नहीं है । अनुच्छेद 156 के खंड (3) से केवल वह पदावधि उपदर्शित होती है जो कि राष्ट्रपति के प्रसाद के अध्यधीन है । इसके विपरीत, अनुच्छेद 310 और अनुच्छेद 311 के प्रति निर्देश किया जा सकता है जहां प्रसाद का सिद्धांत स्पष्टतः और निर्विवाद रूप से निर्बंधन के अध्यधीन है । अनुच्छेद 310 के खंड (1) में यह उपबंध है कि ऐसा व्यक्ति, जो संघ सरकार में सेवा कर रहा है, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और ऐसा व्यक्ति जो राज्य सरकार में सेवारत है, राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । 'प्रसाद का सिद्धांत' अनुच्छेद 310(2) में किसी निर्बंधन और अनुच्छेद 311(1) और (2) में के निर्बंधनों के अध्यधीन है । अत्यंत महत्वपूर्ण निर्बंधन अनुच्छेद 311 के खंड (2) में अंतर्विष्ट है जिसमें यह उपबंध किया गया है कि किसी व्यक्ति को ऐसी जांच के पश्चात् ही, जिसमें उसे अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों की सूचना दे दी गई है और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दे दिया गया है, पदच्युत किया जाएगा या पद से हटाया जाएगा, अन्यथा नहीं । अनुच्छेद 310 का खंड (1) "इस संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से यथा उपबंधित के सिवाय" शब्दों से आरंभ होता है । अतः, अनुच्छेद 310 से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति/राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त संघ या राज्य में सेवा करता है तथापि, प्रसादानुसार हटाने की शक्ति संविधान के अन्य अभिव्यक्त उपबंधों के

अध्यधीन है; और अनुच्छेद 311 में ऐसा अभिव्यक्त उपबंध अंतर्विष्ट है जो प्रसादानुसार हटाने की शक्ति पर परिसीमाएं लगाता है । इसके विपरीत, अनुच्छेद 156 के खंड (1) को संविधान के किसी अन्य उपबंध के अध्यधीन नहीं बनाया गया है और न ही उसे किसी अपवाद के अध्यधीन रखा गया है । खंड (3) को, जिसमें राज्यपाल के पद की पदावधि पांच वर्ष विहित की गई है, खंड (1) के अध्यधीन बनाया गया है जिसमें यह उपबंध है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । अतः, इस दलील को स्वीकार करना संभव नहीं है कि अनुच्छेद 156 का खंड (1) अनुच्छेद 156 के खंड (3) के अधीन किसी अभिव्यक्त निर्बंधन या परिसीमा के अध्यधीन है । याची ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि किसी राज्यपाल को ऐसे आदेश द्वारा हटाया जाना चाहिए जिसमें कारण प्रकट किए गए हों, केन्द्र-राज्य संबंधों पर सरकारिया आयोग की रिपोर्ट और संविधान के कार्यकरण के पुनर्विलोकन के लिए राष्ट्रीय आयोग की इस रिपोर्ट का अवलंब लिया कि राज्यपाल को अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर दिया जाना चाहिए और यह कि केवल बाध्यकारी कारणों से हटाया जाना चाहिए, और परिणामस्वरूप राज्यपालों की पदावधि को सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता पर बल दिया गया । इसके बाद लोक राय जानने और सार्वजनिक बहस को बढावा देने के लिए सांविधान के कार्यकरण का पुनर्विलोकन करने वाले राष्ट्रीय आयोग द्वारा संविधान के अधीन राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में प्रकाशित परामर्श-पत्र के प्रति निर्देश किया गया था । ये सिफारिशें, चाहे वे कितनी ही तर्कसम्मत या विचार या स्वीकार किए जाने योग्य क्यों न हों, सिफारिशें ही रहीं । वे संविधान के यथा-विद्यमान अभिव्यक्त उपबंधों पर अध्यारोही नहीं हो सकती हैं । न ही वे अनुच्छेद 156 का निर्वचन करने में सहायक हो सकती हैं । इस तथ्य से ही कि ऐसी सिफारिशें की गई हैं, यह दर्शित होता है कि विद्यमान सांविधानिक उपबंधों के अधीन स्थिति इसके विपरीत है । ये ऐसे सुझाव हैं जिन पर उन लोगों को विचार करना है जो संविधान में संशोधन कर सकते हैं । वे संविधान के विद्यमान उपबंधों का निर्वचन करने में सहायता नहीं करते हैं । (पैरा 30, 31, 33 और 34)

किसी निर्बंधन के बिना किसी प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त हटाने संबंधी उपबंध राज्यपालों के अलावा मंत्रियों तथा महाधिवक्ता को भी लागू होता है । इन पदों को भरने के लिए योग्यता, अनुभव और विशिष्टताओं वाले व्यक्तियों को चुना जाता है । इन व्यक्तियों को अपनी जीविका उपार्जित करने में समर्थ बनाने के लिए नहीं चुना जाता बल्कि समाज की सेवा करने

के लिए चुना जाता है । यह मानना गलत है कि चूंकि ऐसे व्यक्तियों को उनकी महिमा, परिपक्वता और अनुभव के कारण चुना जाता है इसलिए जब तक कार्यकाल की सुरक्षा नहीं होती तब तक वे हतोत्साहित होंगे या उनमें हटाए जाने का सतत् भय बना रहेगा । जब वे इन पदों को स्वीकार करते हैं तब उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि वे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे । इस प्रकार, इस सीमा तक सहमति है कि राज्यपाल को केवल किसी विधिमान्य कारण से हटाया जा सकता है और यह कि शारीरिक और मानसिक अक्षमता, भ्रष्टाचार और ऐसा व्यवहार जो राज्यपाल के लिए अशोभनीय है, हटाए जाने के लिए विधिमान्य आधार हैं । तथापि, इस बारे में असहमति है कि हटाने के लिए इसके अलावा और कौन से आधार हो सकते हैं । इस न्यायालय के मतानुसार अन्य आधार भी हो सकते हैं । कारणों को किन्हीं विनिर्दिष्ट शीर्षों के अधीन रखना संभव नहीं है । शक्ति का प्रयोग करने पर एकमात्र परिसीमा यह है कि वह विधिमान्य कारणों से होना चाहिए । यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि कौनसी बातें विधिमान्य कारण गठित करती हैं । अतः, किसी राज्यपाल को इस आधार पर नहीं हटाया जा सकता कि वह केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के अनुकूल नहीं है या वह उसने उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य करने से इनकार कर दिया है । यद्यपि राज्यपाल, मंत्री और महाधिवक्ता सभी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं तथापि, मंत्रियों और महाधिवक्ता के पदों और किसी राज्यपाल के पद के बीच मूलभूत अंतर है । राज्यपाल राज्य का सांविधानिक प्रमुख होता है । वह संघ सरकार का न तो कर्मचारी और न ही कोई अभिकर्ता होता है तथा न ही किसी राजनैतिक दल का भाग होता है । दूसरी ओर, एक मंत्री प्रधानमंत्री के दल का एक चुना हुआ सदस्य होता है । प्रधानमंत्री और एक मंत्री के बीच पूर्णतः राजनैतिक संबंध होता है । यद्यपि महाधिवक्ता लोक पद धारण करता है तथापि, संघ सरकार और महाधिवक्ता के बीच अधिवक्ता-मुवक्किल का तत्व होता है । अतः, किसी मंत्री या महाधिवक्ता के मामले में विश्वास का खोना प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए सुसंगत कसौटी होगी किन्तु किसी राज्यपाल के मामले में यह सुसंगत आधार नहीं है । (पैरा 39, 40 और 41)

जब राज्यपाल सरकार के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और राष्ट्रपति के प्रसादानुसार हटाने की शक्ति किन्हीं शर्तों या निर्बंधनों द्वारा सीमित नहीं होती तब इसका परिणाम यह निकलता है कि इस शक्ति का प्रयोग किसी भी समय कोई कारण बताए बिना किया जा सकता है ।

तथापि, हटाने के लिए कारण होने की आवश्यकता और हटाने के लिए कारण प्रकट करने की आवश्यकता के बीच विभेद है । जबकि राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राज्यपाल को हटाने के संबंध में कारण प्रकट या सूचित करे, किन्तु यह अनिवार्य है कि कोई कारण अवश्य ही विद्यमान होना चाहिए । यदि उस आधार पर कार्यवाही नहीं की जाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह पर ऐसा कोई आदेश कर सकेगा जो कि अभिव्यक्त रूप से मनमाना या बेतुका या असद्भाविक है । अतः, यद्यपि ऐसी परमाधिकार वाली शक्ति के प्रयोग द्वारा हटाए जाने के लिए कोई हेतुक या कारण प्रकट या समनुदेशित नहीं किया जाना होता है तथापि, हटाने के लिए कुछ विधिमान्य हेतुक अवश्य विद्यमान होना चाहिए । अतः, जबकि यह न्यायालय इस दलील को स्वीकार नहीं करता है कि अनुच्छेद 156 के अधीन कोई आदेश न्याय्य नहीं है किन्तु यह न्यायालय इस दलील को स्वीकार करता है कि किसी राज्यपाल को हटाने से पूर्व कोई कारण दर्शाने की आवश्यकता नहीं है और न ही राज्यपाल को इसकी कोई सूचना देने की आवश्यकता है । (पैरा 42)

जबकि राष्ट्रपति या राज्यपाल तथ्यों की पर्याप्तता और क्षमा और प्रविलंबन के औचित्य का एकमात्र निर्णायक होता है किन्तु यह शक्ति संविधान में प्रगणित एक शक्ति होने के कारण इसकी परिसीमाएं स्वयं संविधान में पाई जानी चाहिएं । न्यायालय यह सुनिश्चित करने के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित शक्ति का प्रयोग करते हैं कि राष्ट्रपति ने अपना विनिश्चय करने से पूर्व सभी सुसंगत सामग्री पर विचार कर लिया है । चूंकि जब कभी ऐसी शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो ऐसी शक्ति के प्रयोग का विस्तार व्यापकतम होता है इसलिए यह उपधारणा की जाती है कि राष्ट्रपति ने मामले के सभी पहलुओं पर वस्तुनिष्ठ रूप से विचार करने के पश्चात् समुचित रूप से और सावधानीपूर्वक कार्य किया । जहां कारण दिए जाते हैं वहां न्यायालय तब हस्तक्षेप कर सकता है जब कारण असंगत पाए जाते हैं । तथापि, जब कारण नहीं दिए जाते हैं तो न्यायालय केवल वहां हस्तक्षेप कर सकता है जहां शक्ति का प्रयोग अनुच्छेद 72 के अधीन शक्ति के पूर्ण विस्तार का गलत मूल्यांकन करके आत्म-खंडन द्वारा दूषित है या जहां कि विनिश्चय मनमाना विभेदकारी या असद्भाविक है । (पैरा 46)

अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग एक ऐसी कार्यपालक शक्ति होने के कारण जिसका प्रयोग मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह पर किया जाता है, प्रश्न यह है कि अनुच्छेद 74 के खंड (2) में अंतर्विष्ट वर्जन

लागू होगा अथवा नहीं । उक्त खंड में यह उपबंध है कि इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या कोई सलाह दी गई थी और यदि दी गई थी तो क्या दी गई थी । अनुच्छेद 74(2) में मात्र इस प्रश्न की जांच करना वर्जित है कि क्या मंत्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को कोई सलाह दी गई थी, और यदि दी गई थी तो क्या दी गई थी किन्तु इसमें उस सामग्री की संवीक्षा करना वर्जित नहीं है जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने आदेश किया है । इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि जबकि राष्ट्रपति के नाम से जारी किए गए किसी आदेश को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि वह मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के प्रतिकूल था या वह मंत्रियों से सलाह अभिप्राप्त किए बिना जारी किया गया था, इससे न्यायालय भारत संघ से यह अपेक्षा करने से वर्जित नहीं हो जाता कि वह न्यायालय को वह सामग्री प्रकट करे जिसके आधार पर राष्ट्रपति का अपेक्षित समाधान हुआ था । अनुच्छेद 74(2) में अंतर्विष्ट वर्जन न्यायालय द्वारा यह जांच करने के मार्ग में बाधक नहीं होगा कि कोई ऐसी सामग्री थी अथवा नहीं जिसके आधार पर ऐसी सलाह दी गई थी, क्या ऐसी सामग्री ऐसी सलाह देने के लिए सुसंगत थी और क्या सामग्री ऐसी थी कि कोई भी युक्तिसंगत व्यक्ति उस निष्कर्ष पर पहुंच सकता था जिसे चुनौती दी गई थी । इसलिए, यद्यपि सामग्री की पर्याप्तता को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता था तथापि, ऐसी सामग्री के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष की विधिसम्मतता न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन थी । (पैरा 47)

अनुच्छेद 156(1) में यह उपबंध है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । अनुच्छेद 74 को ध्यान में रखते हुए, राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है । इसलिए, यद्यपि अनुच्छेद 156(1) के अधीन पद से हटाना राष्ट्रपति के प्रसादानुसार होता है तथापि, ऐसे प्रसाद का प्रयोग इस अपेक्षा द्वारा निर्बंधित है कि वह मंत्रिपरिषद् की सलाह पर होना चाहिए । क्या राज्यपाल का हटाया जाना न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है ? अनुच्छेद 156(1) के अधीन कारण देने की आवश्यकता या सूचना देने की आवश्यकता को अभिमुक्ति दी गई है किन्तु अनुच्छेद 156(1) द्वारा ऋजुपूर्वक और युक्तियुक्त रूप से कार्य करने की आवश्यकता को अभिमुक्ति प्रदान नहीं की जा सकती । राष्ट्रपति को अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते समय ऐसी रीति में कार्य करना चाहिए जो कि मनमानी, स्वेच्छाचारी या अयुक्तियुक्त नहीं है । प्रसाद के प्रत्याहरण को चुनौती दिए जाने की दशा में न्यायालय आवश्यक रूप से यह उपधारणा करेगा कि ऐसा

11-A—86 VSP/ND/11

बाध्यकारी कारणों से किया गया है । परिणामस्वरूप, जहां व्यथित व्यक्ति अपने हटाए जाने के संबंध में मनमानेपन या असद्भाव का प्रथमदृष्टया दृष्टांत साबित करने में समर्थ नहीं होता है वहां न्यायालय उसमें हस्तक्षेप करने से इनकार करेगा । तथापि, जहां मनमानेपन या असद्भाव का प्रथमदृष्टया मामला साबित कर दिया जाता है वहां न्यायालय संघ सरकार से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह उसका इस बाबत समाधान करने के लिए अभिलेख/सामग्री प्रस्तुत करे कि प्रसाद का प्रत्याहरण उचित और बाध्यकारी कारणों से हुआ था । यह मामले के तथ्यों पर निर्भर करेगा कि कौन सी बातें उचित और बाध्यकारी कारण गठित करती हैं । केन्द्र-राज्य संबंधों को बनाए रखने में राज्यपाल के कृत्यों की प्रकृति और ऐसे मामलों में सरकार के पास उपलब्ध नम्यता को ध्यान में रखते हुए यह कहने की आवश्यकता नहीं है उसमें तब तक कोई हस्तक्षेप नहीं होगा जब तक कि काफी ठोस मामला साबित नहीं कर दिया जाता है । अतः, स्थिति यह है कि विनिश्चय न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है किन्तु बहुत सीमित विस्तार तक । (पैरा 49)

परिणामस्वरूप, (i) अनुच्छेद 156(1) के अधीन राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । इसलिए, राष्ट्रपति राज्यपाल को किसी भी समय कोई कारण बताए बिना और कारण दर्शाने का कोई अवसर दिए बिना पद से हटा सकता है । (ii) यद्यपि प्रसाद के जारी न रहने के लिए, जिसके परिणामस्वरूप हटाया जाता है, कोई कारण देने की आवश्यकता नहीं है तथापि, अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग मनमाने, स्वेच्छाचारी या अयुक्तियुक्त रीति में नहीं किया जा सकता है । इस शक्ति का प्रयोग विरल और आपवादिक परिस्थितियों में विधिमान्य और बाध्यकारी कारणों से करना होगा । बाध्यकारी कारण वहां तक निर्बंधित नहीं है जो कि याची द्वारा प्रगणित किए गए हैं (अर्थात्, शारीरिक/मानसिक असमर्थता, भ्रष्टाचार और ऐसा व्यवहार जो राज्यपाल के लिए अशोभनीय हो) किन्तु उनका विस्तार व्यापक है । यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि बाध्यकारी कारण कौन से होंगे । (iii) किसी राज्यपाल को इस आधार पर नहीं हटाया जा सकता कि वह संघ सरकार या केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की नीतियों और विचारधारा के अनुकूल नहीं है । न ही उसे इस आधार पर हटाया जा सकता है कि संघ सरकार ने उसमें विश्वास खो दिया है । अतः, इससे यह परिणाम निकलता है कि केन्द्र में सरकार में परिवर्तन होना, नई सरकार की पसन्द के अनुसार अन्य व्यक्तियों के लिए मार्ग खोलने हेतु पदासीन राज्यपालों को हटाने का कोई

आधार नहीं है । (iv) चूंकि कारण दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं है इसलिए प्रसाद के प्रत्याहरण के परिणामस्वरूप पद से हटाए जाने के बारे में यह उपधारणा की जाएगी कि वह विधिमान्य है और वह केवल सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होगा । यदि व्यथित व्यक्ति प्रथमदृष्टया यह प्रदर्शित करने में समर्थ होता है कि उसका हटाया जाना या तो मनमाना, असद्भाविक, स्वेच्छाचारी या सनकपूर्ण था तो न्यायालय संघ सरकार से यह अपेक्षा करेगा कि वह न्यायालय के समक्ष वह सामग्री प्रकट करे जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने प्रसाद को प्रत्याहृत करने का विनिश्चय किया था । यदि संघ सरकार कोई कारण प्रकट नहीं करती है या प्रकट किए गए कारण असंगत, मनमाने, सनकपूर्ण या असद्भाविक पाए जाते हैं तो न्यायालय हस्तक्षेप करेगा । तथापि, न्यायालय मात्र इस आधार पर हस्तक्षेप नहीं करेगा कि कोई भिन्न दृष्टिकोण संभव है या सामग्री अथवा कारण अपर्याप्त हैं । (पैरा 50)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2006]	(2006) 2 एस. सी. सी. 1 : **रामेश्वर प्रसाद (VI)** बनाम **भारत संघ** ;	24
[2000]	(2000) 2 एस. सी. सी. 81 : **रणजी थॉमस** बनाम **भारत संघ** ;	11
[1994]	(1994) 3 एस. सी. सी. 1 : **एस. आर. बोम्मई** बनाम **भारत संघ** ;	25,47
[1964]	ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 600 : **मोती राम** बनाम **नार्थ ईस्ट फ्रंटियर रेलवे** ;	19
[1958]	ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 36 : **पी. एल. ढींगरा** बनाम **भारत संघ** ;	19
[1954]	[1954] एस. सी. आर. 786 : **बिहार राज्य** बनाम **अब्दुल मजीद** ।	12,16

अनुसृत निर्णय

[1980]	[1980] 2 उम. नि. प. 846 = (1979) 3 एस. सी. सी. 458 : **हरगोविन्द पंत** बनाम **डा. रघुकुल तिलक** ;	24

11-B—86 VSP

[1978] [1978] 2 उम. नि. प. 457 =
(1977) 4 एस. सी. सी. 608 :
कर्नाटक राज्य बनाम **भारत संघ** ; 24

[1977] [1977] 4 उम. नि. प. 1107 =
(1977) 3 एस. सी. सी. 592 :
राजस्थान राज्य बनाम **भारत संघ** । 24,44

निर्दिष्ट निर्णय

[2009] (2009) 1 अपील केसेज़ 453 :
आर. (बेनकाल्ट) बनाम **फारेन सेक्रेटरी** ; 43

[2006] (2006) 8 एस. सी. सी. 161 :
ईपुरु सुधाकर बनाम **आन्ध्र प्रदेश सरकार** ; 46

[2001] (2001) 3 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्‌र्स 433 :
एक्स पार्टे डेली ; 48

[1999] (1999) 177 डी. एल. (चतुर्थ) 73 (एस. सी. सी.) :
वेल्स बनाम **न्यूफाउंड लैंड** ; 15

[1994] (1994) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 324 :
आर. सी. पौडियाल बनाम **भारत संघ** ; 45

[1992] (1992) सप्ली. 2 एस. सी. सी. 651 :
किहोतो होल्लोहन बनाम **ज़ाचिल्हू** ; 44

[1989] [1989] 2 उम. नि. प. 318 =
(1989) 1 एस. सी. सी. 204 :
केहर सिंह बनाम **भारत संघ** ; 46

[1985] [1985] 4 उम. नि. प. 106 =
(1985) 3 एस. सी. सी. 398 :
भारत संघ बनाम **तुलसीराम पटेल** ; 12

[1985] (1985) अपील केसेज़ 374 :
कौंसिल ऑफ सिविल सर्विस यूनियन्स बनाम
मिनिस्टर फॉर द सिविल सर्विस ; 43

[1982]	[1982] 4 उम. नि. प. 1 = (1981) सप्ली. एस. सी. सी. 87 : **एस. पी. गुप्ता** बनाम **भारत संघ** ;	10
[1981]	[1981] 4 उम. नि. प. 165 = (1981) 1 एस. सी. सी. 107 : **मारू राम** बनाम **भारत संघ** ;	46
[1896]	(1896) 1 क्यू. बी. 116 : **डन** बनाम **क्वीन** ;	12
[1895]	(1895) अपील केसेज़ 229 : **शेंटन** बनाम **स्मिथ** ;	12
	395 यू. एस. 486 : **पॉवेल** बनाम **मैक्कोरमैक** ;	45
	369 यू. एस. 186 : **बेकर** बनाम **कार** ।	45

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2004 की रिट याचिका (सिविल) सं. 296 तथा 2004 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 663.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री जी. ई. वाहनवती, महान्यायवादी, (सुश्री) इंदिरा जयसिंह, अपर महासालिसिटर, सोली जे. सोराबजी, के. वी. विश्वनाथन, ज्येष्ठ अधिवक्ता, एच. पी. शर्मा, विवेक भट्टी, रंजीत वी. संगले (के. एस. राणा की ओर से) देवदत्त कामत, चिनमाय प्रदीप शर्मा, टी. ए. खान, रोहित शर्मा, मिहिर चटर्जी, निशांत पाटिल (सुश्री) सुषमा सूरी, (श्रीमती) अनिल कटियार, (पी. परमेश्वरन् की ओर से) बी. रघुनाथ और अभिषेक के. (के. वी. वेंकटरमण की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. वी. रवींन्द्रन ने दिया ।

न्या. रवीन्द्रन – भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल की गई यह रिट याचिका, जिसके द्वारा लोक महत्व का एक ऐसा प्रश्न उठाया गया है जिसमें संविधान के अनुच्छेद 156 का निर्वचन अंतर्वलित है, इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने तारीख 24 जनवरी, 2005 को संविधान पीठ को निर्देशित की गई है ।

2. यह रिट याचिका भारत के राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् की सलाह पर तारीख 2 जुलाई, 2004 को उत्तर प्रदेश, गुजरात, हरियाणा और गोवा राज्यों के राज्यपालों को हटाए जाने के परिणामस्वरूप लोक हित मुकदमे के रूप में फाइल की गई है । याची ने (क) भारत संघ को ऐसी समस्त फाइलें, दस्तावेज़ और तथ्य प्रस्तुत करने का निदेश देने की, जिन्हें भारत के राष्ट्रपति के तारीख 2 जुलाई, 2004 के आदेश का आधार बनाया गया; (ख) चार राज्यपालों का हटाया जाना अभिखंडित करते हुए उत्प्रेषण की रिट की; और (ग) उक्त चार राज्यपालों को पांच वर्ष में से शेष बची अपनी-अपनी अवधि पूरी करने के लिए अनुज्ञात करने संबंधी प्रत्यर्थियों को परमादेश की रिट जारी करने की ईप्सा की है ।

सुसंगत सांविधानिक उपबंध

3. संविधान के अनुच्छेद 153 में यह उपबंध है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा । अनुच्छेद 154 द्वारा राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित की गई है । अनुच्छेद 155 में यह उपबंध है कि राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा । अनुच्छेद 156 राज्यपाल की पदावधि के संबंध में है और उसे नीचे उद्धृत किया जाता है :–

> "156. **राज्यपाल की पदावधि** – (1) राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा ।
>
> (2) राज्यपाल, राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ।
>
> (3) इस अनुच्छेद के पूर्वगामी उपबंधों के अधीन रहते हुए, राज्यपाल अपने पदग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा :
>
> परन्तु राज्यपाल, अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी, तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना

पद ग्रहण नहीं कर लेता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकित)

याची के निवेदन

4. याची ने यह निवेदन किया है कि राज्यपाल, जो कि राज्य का प्रमुख होता है, एक उच्च सांविधानिक पद धारण करता है जिसमें उसके महत्वपूर्ण सांविधानिक कृत्य और कर्तव्य होते हैं; इस तथ्य से कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है, राज्यपाल संघ सरकार का कर्मचारी, सेवक या अभिकर्ता नहीं बन जाता है और यह कि उसका स्वतंत्र सांविधानिक पद संघ सरकार के अधीनस्थ या सहायक नहीं है और वह उस रीति के लिए, जिसमें वह राज्यपाल के रूप में अपने कृत्यों और कर्तव्यों का निर्वहन करता है, उसके प्रति जवाबदेह नहीं होता है । यह दलील दी गई है कि राज्यपाल को साधारणतया पांच वर्ष की पूर्ण अवधि के लिए पद पर बने रहने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए और यद्यपि वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है तथापि, उसे विरल और आपवादिक परिस्थितियों में, निम्नलिखित सांविधानिक मापदंडों और अपेक्षाओं का अनुपालन करके ही पांच वर्ष की अवधि की समाप्ति से पूर्व हटाया जा सकेगा :–

(क) अनुच्छेद 156 के अधीन राष्ट्रपति के प्रसाद का प्रत्याहरण उन्मुक्त विवेकाधिकार नहीं हो सकता है और न ही वह मनमाना, चंचल, अयुक्तियुक्त या असद्भाविक हो सकता है । हटाने की शक्ति का प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिए यदि ऐसी सामग्री उपलब्ध हो जिससे कदाचार, अशोभनीयता अक्षमता प्रदर्शित होती हो । दूसरे शब्दों में, हटाया जाना केवल उन आधारों की विद्यमानता के आधार पर होना चाहिए जो अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों की दशा में महाभियोग के लिए विहित किए गए आधारों के समरूप हैं ।

(ख) अनुच्छेद 156 के खंड (1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए किसी राज्यपाल को हटाने से पूर्व नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पालन किया जाएगा । उसे एक कारण बताओ सूचना जारी की जानी चाहिए जिसमें प्रस्थापित हटाए जाने के लिए कारण उपवर्णित हों और उन कारणों की बाबत सुने जाने का अवसर दिया जाना चाहिए ।

(ग) हटाए जाने की कार्यवाही किसी सकारण आदेश द्वारा की जानी चाहिए जिससे कि उसे और जनता को उन कारणों से अवगत कराया जा सके जिनके आधार पर उसे राज्यपाल के रूप में बने रहने के अनुपयुक्त समझा गया है ।

यह दलील भी दी गई है कि राष्ट्रपति के प्रसाद का प्रत्याहरण, जिसके परिणामस्वरूप किसी राज्यपाल को हटाया जाता है, न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा न्यायालय के विचार योग्य है ।

5. सुनवाई के दौरान याची ने अपने पक्षकथन में थोड़ा परिवर्तन किया । याची की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान ज्येष्ठ काउन्सेल श्री सोली जे. सोराबजी ने यह निवेदन किया कि राज्यपालों के स्वतंत्र और प्रभावी कार्यकरण को सुनिश्चित करने के लिए कतिपय सुरक्षोपायों को संविधान के मूल ढांचे को ध्यान में रखते हुए अनुच्छेद 156(1) के अधीन राज्यपालों को हटाने की शक्ति पर परिसीमाओं के रूप में समझना होगा । उन्होंने यह स्पष्ट किया कि याची का निवेदन यह नहीं है कि राज्यपाल का पांच वर्ष का नियत, न हटाने योग्य कार्यकाल होता है किन्तु कार्यकाल की कुछ निश्चितता अवश्य होनी चाहिए जिससे कि वह अपने सांविधानिक पद के कर्तव्यों और कृत्यों का निर्वहन प्रभावी रूप से और स्वतंत्र रूप से कर सके । कार्यकाल की निश्चितता हटाए जाने के लिए मापदंड नियत करके पूरी की जाएगी । दूसरी ओर, उन्मुक्त विवेकाधिकार को मान्यता देने से राज्यपाल निरंतर हटाए जाने की आशंका के अध्यधीन हो जाएगा और उसके मनोबल का ह्रास होने के अलावा वह संघ सरकार के अधीनस्थ हो जाएगा । इसलिए, उसका हटाया जाना निम्नलिखित सांविधानिक मापदंडों के अनुरूप होना चाहिए :–

मापदंड 1 : राज्यपाल को उन बाध्यकारी कारणों से, जो उसे पद में बने रहने के लिए अनुपयुक्त बनाते हैं, विरल और आपवादिक परिस्थितियों में हटाया जाना चाहिए : अनुच्छेद 156 के खंड (3) के अधीन राज्यपाल का कार्यकाल पांच वर्ष है । किन्तु अनुच्छेद 156 का खंड (3) उसके खंड (1) के अध्यधीन है, जिसमें यह उपबंध है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । इसका केवल यह अर्थ है कि उसे पांच वर्ष की उक्त अवधि के दौरान किसी भी समय ऐसे बाध्यकारी कारणों से हटाया जा सकता है, जो उसके पद की प्रकृति और उसके द्वारा किए जाने वाले कृत्यों से सुसंगत और संबंधित हैं, उदाहरणार्थ, (क) शारीरिक या मानसिक अक्षमता; (ख) भ्रष्टाचार; (ग) संविधान का अतिक्रमण; और (घ)

राज्यपाल के लिए अशोभनीय ऐसा दुर्व्यवहार या कदाचार जो कि उसे वह पद धारण करने के लिए अनुपयुक्त बनाता है (अर्थात्, सक्रिय राजनीति में भाग लेना या नियमित रूप से राजनैतिक रैलियों में भाषण करना या राष्ट्र-विरोधी या विघटनकारी तत्वों से संबंध रखना, इत्यादि) । अनुच्छेद 156 के अधीन किसी राज्यपाल को राज्यपाल की विचारधारा या व्यक्तिगत वरीयता के प्रति निर्देश से नहीं हटाया जा सकता है । न ही ऐसा हटाया जाना किसी अंतरस्थ हेतु से हो सकता है, उदाहरणार्थ, किसी ऐसे अन्य व्यक्ति के लिए स्थान बनाना जिसके बारे में यह बोधगम्य है कि वह केन्द्रीय सरकार की इच्छाओं और निदेशों के अधिक अध्यधीन है या किसी ऐसे राजनीतिज्ञ के लिए स्थान बनाना जिसे मंत्रिपरिषद् में स्थान नहीं दिया जा सका या बनाए नहीं रखा जा सका ।

मापदंड 2 - राज्यपाल को उसे हटाए जाने के कारण बताए जाने चाहिएं यद्यपि कोई औपचारिक कारण बताओ सूचना देना या कोई जांच करना आवश्यक नहीं है तथापि, ऋजु व्यवहार के सिद्धांत यह अपेक्षा करते हैं कि जब राज्यपाल जैसे किसी उच्च सांविधानिक कृत्यकारी को हटाने की ईप्सा की जाती है तब उसे उसके लिए कारण बताए जाने चाहिएं ।

मापदंड 3 - हटाने संबंधी आदेश न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होता है : विधिसम्मत शासन पर आधारित किसी लोकतंत्र में किसी भी प्राधिकारी को कोई उन्मुक्त और अपुनर्विलोकनीय विवेकाधिकार नहीं होता है । सभी लोक प्राधिकारियों में निहित सभी शक्तियों का प्रयोग केवल लोक भलाई के लिए करना आशयित होता है । अतः, किसी राज्यपाल को समयपूर्व हटाने वाला प्रत्येक आदेश न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होगा ।

प्रत्यर्थियों के निवेदन

6. प्रत्यर्थियों ने अपने प्रति-शपथपत्र में यह दलील दी है कि अनुच्छेद 156(1) के अधीन राज्यपाल को हटाने की राष्ट्रपति की शक्ति आत्यांतिक और उन्मुक्त है । अनुच्छेद 156(3) में उपबंधित पांच वर्ष का कार्यकाल अनुच्छेद 156(1) में अंतर्विष्ट प्रसाद के सिद्धांत के अध्यधीन है । संविधान में प्रसाद के सिद्धांत पर कोई निर्बंधन या परिसीमाएं नहीं लगाई गई हैं । अतः, अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का यह अर्थ लगाना अननुज्ञेय है कि उसमें किन्हीं प्रकार की परिसीमाएं हैं । राष्ट्रपति द्वारा हटाने की शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह पर किया जाता है । मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह की अनुच्छेद 74(2) में अंतर्विष्ट वर्जन को ध्यान में रखते हुए,

किसी न्यायालय में जांच नहीं की जा सकती है । अतः इस बात पर जोर दिया गया था कि इन दोनों आधारों पर राज्यपाल का हटाया जाना न्याय्य नहीं है ।

7. प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान महान्यायवादी ने रिट याचिका की संधार्यता के संबंध में प्रारंभिक आक्षेप किए हैं । उसने यह निवेदन किया है कि यदि वे चार राज्यपाल, जिन्हें हटाया गया है, किसी अनुतोष की ईप्सा नहीं करना चाहते और उन्होंने अपना हटाया जाना प्रतिवाद के बिना स्वीकार कर लिया है तो जनता का कोई सदस्य उन्हें अनुतोष देने के लिए लोक हित मुकदमा नहीं ला सकता है । उसने गुणागुण के आधार पर यह निवेदन किया कि इस उपबंध से कि राज्यपाल सरकार के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा, यह अभिप्रेत है कि राष्ट्रपति का प्रसाद किसी भी समय प्रत्याहृत किया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप राज्यपाल को कोई कारण दिए बिना हटाया जाता है । उसने यह निवेदन किया कि संविधान-निर्माताओं ने विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंध किया था कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे जिससे कि संघ सरकार को, यदि उसका किसी राज्यपाल में विश्वास नहीं रहा है या यदि वह राज्यपाल के रूप में बने रहने के लिए उपयुक्त है, हटाने की नम्यता प्रदान की जा सके । उसने प्रत्युत्तर में अपने इस पक्षकथन में परिवर्तन किया कि अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति एक उन्मुक्त विवेकाधिकार है । उसने यह निवेदन किया कि यह उपबंध कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा, मनमाने, सनकी या स्वेच्छाचारी रूप से कार्य करने की अनुज्ञप्ति नहीं है । संघ सरकार ने ऐसा कार्य करने के अधिकार का दावा नहीं किया है जो उसे पसन्द हो क्योंकि संविधान में मनमानेपन और उन्मुक्त विवेकाधिकार का विरोध किया गया है । उसने यह कथन किया कि किसी कारणवश हटाया जाना चाहिए किन्तु ऐसा कारण संसूचित करना आवश्यक नहीं है । उसने यह निवेदन भी किया कि प्रसाद का सिद्धांत लागू करके पद से हटाने का संबंध राज्यपाल की ओर से किए गए किसी कार्य या लोप या त्रुटि से होना आवश्यक नहीं है । उसने यह निवेदन किया कि सारतः यह उपबंध करने का उद्देश्य कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा, यह था कि यदि राष्ट्रपति का राज्यपाल पर विश्वास नहीं रहा है या उसने उसे किसी कारण से अनुपयुक्त पाया है तो वह राष्ट्रपतीय प्रसाद प्रत्याहृत कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप उसे हटाया जाएगा । उसने निवेदन किया कि प्रसाद के

सिद्धांत के उपयोजन को राज्यपाल की ओर से की गई त्रुटि या किए गए कदाचार की विनिर्दिष्ट घटनाओं तक निर्बंधित करके या हटाने के लिए कोई कारण देने या संसूचित करने संबंधी आक्षेप की अपेक्षा करके उसकी व्यापकता निरावृत्त नहीं की जा सकती है ।

8. विद्वान महान्यायवादी ने यह निवेदन किया कि लोकतंत्र में राजनीतिक दल आपसी विश्वास पर बनते हैं और वे एक घोषित कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचन लड़ते हैं । यदि किसी दल को, जो किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर सत्ता में आता है, यह लगता है कि कोई राज्यपाल उसकी नीतियों के दायरे से बाहर है तो वह दल ऐसे राज्यपाल को हटाने के लिए समर्थ होना चाहिए । विद्वान महान्यायवादी ने स्पष्ट रूप से यह दलील दी कि यदि राष्ट्रपति का किसी राज्यपाल में विश्वास नहीं रहता है या वह यह पाता है कि राज्यपाल लोकतंत्रात्मक और निर्वाचन की आज्ञा के दायरे से बाहर है तो संघ सरकार को किसी राज्यपाल को किसी त्रुटि के लिए दोषी ठहराए बिना हटाने का अधिकार होगा ।

विचारार्थ प्रश्न

9. जो दलीलें दी गई हैं उनसे निम्नलिखित प्रश्न उद्‌भूत होते हैं :–

(i) क्या याचिका संधार्य है ?

(ii) "प्रसाद के सिद्धांत" की परिधि क्या है ?

(iii) संविधान के अधीन राज्यपाल की स्थिति क्या है ?

(iv) क्या भारत के संविधान के अनुच्छेद 156(1) के अधीन प्रयोग की जाने वाली शक्ति पर कोई अभिव्यक्त या विवक्षित परिसीमाएं/निर्बंधन हैं ?

(v) क्या प्रसाद के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए राज्यपालों का हटाया जाना न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है ?

हम इन विवाद्यकों में से प्रत्येक के संबंध में पृथक् रूप से विचार करेंगे ।

(i) रिट याचिका की संधार्यता

10. प्रत्यर्थियों ने यह निवेदन किया है कि ऐसे राज्यपालों के लिए, जिन्हें पद से हटाया गया है, अनुतोष सुनिश्चित करने के लिए लोक हित मुकदमे के रूप में रिट याचिका संधार्य नहीं है क्योंकि किसी भी व्यथित

व्यक्ति ने अनुतोष के लिए न्यायालय में समावेदन नहीं किया था और रिट याची को उनकी ओर से अनुतोष की ईप्सा करने के लिए याचिका फाइल करने का कोई अधिकार नहीं है । यह इंगित किया गया है कि राज्यपाल समाज के ऐसे असहाय वर्ग के नहीं होते हैं जो निर्धनता, अज्ञानता, असक्षमता या अन्य अलाभप्रदता के कारण अनुतोष की ईप्सा करने में सक्षम न हों । **एस. पी. गुप्ता** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया गया है :–

> "…. ऐसे मामले हो सकते हैं जहां कि निस्संदेह लोक क्षति राज्य अथवा लोक प्राधिकारी के कार्य या लोप द्वारा उद्भूत हो सकती है किन्तु ऐसा कार्य अथवा लोप किसी व्यष्टि को अथवा व्यष्टियों के विनिर्दिष्ट वर्ग या समूह को उल्लिखित विधिक क्षति भी कारित कर सकता है । ऐसे मामलों में, पर्याप्त रूप से हितबद्ध जनता का सदस्य निश्चित रूप से ऐसी कार्यवाही को बनाए रख सकता है जिसके द्वारा ऐसे कार्य अथवा लोप की वैधता पर आक्षेप किया गया हो किन्तु यदि वह व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का विनिर्दिष्ट वर्ग या समूह जिन्हें प्राथमिक रूप से ऐसे कार्य अथवा लोप के परिणामस्वरूप क्षति पहुंची है, किसी अनुतोष की मांग नहीं करना चाहते और ऐसे कार्य अथवा लोप को इच्छापूर्वक तथा किसी प्रतिरोध के बिना उसका दावा नहीं करना चाहते अथवा जनता का ऐसा सदस्य जो कि गौण सार्वजनिक क्षति के बारे में परिवाद करता है कार्यवाही को कायम नहीं रख सकता क्योंकि जनता के ऐसे सदस्य की प्रेरणा पर कार्यवाही को ग्रहण करने का प्रभाव ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के विनिर्दिष्ट वर्ग अथवा समूह को अनुतोष प्रदान करना होगा जिसे प्राथमिक रूप से क्षति पहुंची है क्योंकि वे ऐसी वांछा नहीं करते ।"

याची ने उत्तर के रूप में केवल **एस. पी. गुप्ता** (उपर्युक्त) वाले मामले में की एक अन्य मताभिव्यक्ति के प्रति संकेत किया :–

> "किन्तु ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें कि राज्य अथवा लोप प्राधिकारी किसी सांविधानिक अथवा कानूनी बाध्यता के उल्लंघन में कार्य करता है अथवा ऐसी बाध्यता को कार्यान्वित करने में असफल रहता है जिसके परिणामस्वरूप लोक हित को क्षति पहुंचती है अथवा जिसे सुविधा की दृष्टि से प्राइवेट क्षति से प्रभेद करते हुए सार्वजनिक

[1] [1982] 4 उम. नि. प. 1 = (1981) सप्ली. एस. सी. सी. 87.

क्षति कहा जा सकता है । राज्य अथवा लोक प्राधिकारी के ऐसे कार्य अथवा लोप के विरुद्ध परिवाद लाने की प्रास्थिति किसे प्राप्त होगी ? क्या जनता का कोई सदस्य न्यायिक उपचार के लिए वाद ला सकता है ? अथवा क्या यह प्रास्थिति व्यक्तियों के कतिपय वर्ग पर्यन्त ही सीमित है ? या ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो परिवाद ला सके और इस प्रकार लोक क्षति बिना किसी उपचार के पड़ी रहे .....।

यदि राज्य या कोई लोक प्राधिकारी अपनी शक्ति की परिधि से बाहर कार्यवाही करता है और तद्द्वारा किसी व्यक्ति को या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग अथवा समूह को विनिर्दिष्ट विधिक क्षति पहुंचाता है तो यह प्राइवेट क्षति का ऐसा मामला होगा जिसके विरुद्ध उस रूप में कार्यवाही की जा सकेगी जिस रूप में कि उसकी चर्चा पूर्ववर्ती पैराओं में की गई है । इसी प्रकार, यदि राज्य अथवा किसी लोक प्राधिकारी द्वारा किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के निश्चित वर्ग अथवा समूह के प्रति कर्तव्य निहित है तो वह ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के निश्चित वर्ग अथवा समूह में तत्स्थानी अधिकार को उद्भूत करेगी और वे न्यायिक उपचार हेतु कार्यवाही करने के हकदार होंगे । किन्तु यदि राज्य अथवा लोक प्राधिकारी के कार्य अथवा लोप के कारण किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के किसी निश्चित वर्ग या समूह को कोई विनिर्दिष्ट विधिक क्षति नहीं पहुंचती है और क्षति केवल सार्वजनिक हित को पहुंचती है तो इस बारे में प्रश्न उद्भूत होता है कि भला कौन विधि के नियम को न्यायोचित ठहराने के लिए कार्यवाही ला सकेगा और विधिविहीन कार्यवाही को अपास्त कर सकेगा एवं लोक कर्तव्य के निष्पादन को प्रवर्तित कर सकेगा । यदि ऐसे सार्वजनिक दोष अथवा सार्वजनिक क्षति के लिए कोई भी व्यक्ति कार्यवाही नहीं कर सकता है तो यह विधि के नियम के लिए विध्वंसक होगा क्योंकि राज्य अथवा सार्वजनिक प्राधिकारी को इस बात की स्वतंत्रता होगी कि वह अपनी शक्ति की परिधि से बाहर या उस पर जो बाध्यता लगाई गई थी उसके बारे में लोक कर्तव्य का भंग करते हुए अनुचित रूप से कार्य कर सकेगी । न्यायालय ऐसी स्थिति को वहां सहन नहीं कर सकता जहां कि विधि का पालन उसके द्वारा आबद्ध प्राधिकारी की सदिच्छा पर छोड़ दिया जाता है और यदि विधि का उल्लंघन होता है तो कोई उपचार नहीं हो सकता है । इसलिए न्यायालयों द्वारा बहुत से विनिश्चयों में यह दृष्टिकोण अपनाया गया है कि जब कभी कोई ऐसा सार्वजनिक दोष अथवा सार्वजनिक क्षति होती है जो कि

राज्य अथवा लोक प्राधिकारी के कार्य अथवा लोप द्वारा कारित की जाती है और जो संविधान अथवा विधि के प्रतिकूल है तो जनता का कोई भी सदस्य सद्भावपूर्वक रीति से कार्य करते हुए और पर्याप्त हित धारण करते हुए ऐसे सार्वजनिक दोष अथवा सार्वजनिक क्षति के उपचार के लिए कार्यवाही बनाए रख सकता है । प्रास्थिति का यह कठोर नियम जिसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि केवल ऐसा व्यक्ति जिसे कोई विनिर्दिष्ट विधिक क्षति से वेदना पहुंची है न्यायिक उपचार हेतु किसी कार्यवाही को कायम रख सकता है, शिथिल कर दिया जाए और ऐसा व्यापक नियम बना दिया जाए जो कि जनता के किसी सदस्य को जो कि मात्र दस्तंदाज अथवा हस्तक्षेप करने वाला व्यक्ति न हो किन्तु जिसे कार्यवाही में पर्याप्त हित प्राप्त हो प्रास्थिति प्रदान कर दी जाए ।"

11. इसी प्रकार का लोक हित मुकदमा इस न्यायालय की एक संविधान पीठ के समक्ष **रणजी थॉमस** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में आया जिसमें राष्ट्रपति को विभिन्न राज्यपालों और उपराज्यपालों से बलपूर्वक त्यागपत्र प्राप्त करने से अवरुद्ध करने के लिए इस न्यायालय के हस्तक्षेप की ईप्सा की गई थी । उस मामले में प्रार्थना सं. (क) द्वारा कतिपय राज्यपालों और उपराज्यपालों के त्यागपत्र अभिखंडित करने की ईप्सा की गई और प्रार्थना सं. (ख) द्वारा राष्ट्रपति को राज्यपालों और उप-राज्यपालों के "अनैच्छिक और बलात्" त्यागपत्र स्वीकार करने से अवरुद्ध करने संबंधी निदेश देने की ईप्सा की गई थी । प्रार्थना सं. (ग) इस घोषणा के लिए साधारण प्रार्थना थी कि राष्ट्रपति की वह संसूचना, जिसके द्वारा राज्यपालों और उपराज्यपालों से त्यागपत्र की ईप्सा की गई है, संविधान के अधिकारातीत है । इस न्यायालय ने इस दलील पर विचार करते हुए कि ऐसी याचिका संधार्य नहीं है, निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

"भारत संघ की ओर से उपस्थित होते हुए विद्वान महान्यायवादी ने यह दलील दी कि यह लोक हित मुकदमा याची की ओर से संधार्य नहीं है चूंकि किसी भी राज्यपाल या उपराज्यपाल ने इस न्यायालय में समावेदन नहीं किया है या इस संबंध में विरोध नहीं किया है कि उन्हें त्यागपत्र देने के लिए कहा जा रहा है और याची किसी ऐसे कार्य को चुनौती नहीं दे सकता है जिसे प्रभावित पक्षकार चुनौती नहीं देना

---

[1] (2000) 2 एस. सी. सी. 81.

चाहता है या उसका ऐसा आशय नहीं है । उसने इस न्यायालय द्वारा एस. पी. गुप्ता बनाम भारत संघ [(1982)4 उम. नि. प. 1 = (1981) सप्ली. एस. सी. सी. 87] वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया ।

जहां तक रिट याचिका की प्रार्थना सं. (क) और (ख) का संबंध है, हमें विद्वान महान्यायवादी की दलील में बल प्रतीत होता है । किन्तु, जहां तक रिट याचिका की प्रार्थना सं. (ग) का संबंध है, इसमें एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक मुद्दा उठाया गया है और उसमें भारत के संविधान के अनुच्छेद 156 का निर्वचन अंतर्वलित है । जैसा कि वर्तमान में सलाह दी गई है, हम यह नहीं समझते कि हम याची को वह मुद्दा उठाने के अधिकार से वंचित कर सकते हैं ।"

याची को उन प्रार्थनाओं के संबंध में याचिका फाइल करने का कोई अधिकार नहीं है जिसमें व्यष्टिक राज्यपालों के फायदे के लिए अनुतोष का दावा किया गया है । सभी परिस्थितियों में, ऐसी प्रार्थनाएं समय के व्यतीत होने के कारण अब कायम नहीं रहती है । तथापि, जहां तक संविधान न्यायपीठ को निर्देशित लोक महत्व के उस साधारण प्रश्न का संबंध है, जिसमें अनुच्छेद 156(1) की परिधि और प्रसाद के सिद्धांत की परिसीमाओं पर प्रकाश डाला गया है, याची को आवश्यक रूप से सुने जाने का अधिकार है ।

(ii) प्रसाद के सिद्धांत की परिधि

12. प्रसाद के सिद्धांत का उद्‌भव आंग्ल विधि में क्राउन के अधीन लोक सेवकों की पदावधि के प्रति निर्देश से हुआ है । **डन** बनाम **क्वीन**[1] वाले मामले में कोर्ट ऑफ अपील ने इस पुरानी साधारण विधि के प्रति निर्देश किया कि ब्रिटिश क्राउन के अधीन लोक सेवक की कोई पदावधि नहीं होती थी किन्तु वह क्राउन के आत्यांतिक विवेकाधिकार पर अपना पद धारण करता है । इस प्रकार मत व्यक्त किया गया था :–

"मैं यह मानता हूं कि नियोजित व्यक्ति, जैसे कि याची, क्राउन की सेवा में थे, वे ऐसे मामलों के सिवाय जहां उच्च पदावधि के लिए कुछ कानूनी उपबंध हो, साधारणतया इस आशय से नियोजित किए जाते हैं कि वे क्राउन के प्रसादपर्यन्त अपना नियोजन धारण करेंगे ।

[1] (1896) 1 क्यू. बी. 116.

अतः मैं यह समझता हूं कि याची के नियोजन की संविदा में ऐसा निबंधन अवश्य लगाया जाना चाहिए जो कि सामान्य रूप से सिविल सेवकों को लागू होता है, अर्थात्, यह कि क्राउन अपने प्रसादानुसार नियोजन को समाप्त कर सकेगा । मुझे यह प्रतीत होता है कि लोक हित ही है जिसके कारण वह निबंधन उपबंधित करना पड़ा है जिसका मैंने क्राउन की सेवा में नियोजन के लिए संविदाओं में अंतर्विष्ट करने का उल्लेख किया है । उद्धृत किए गए मामले यह दर्शाते हैं कि चूंकि ऐसा नियोजन लोक कल्याण के लिए होता है इसलिए लोक कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे कतिपय आपवादिक मामलों के सिवाय क्राउन के प्रसादपर्यन्त समाप्त किए जाने योग्य होना चाहिए जहां उसके बारे में यह समझा गया है कि वह लोक कल्याण के लिए अधिक है तो क्राउन की उसके सेवकों को पदच्युत करने की शक्ति पर कुछ निर्बंधन अवश्य ही अधिरोपित किए जाने चाहिएं ।"

(बल देने के लिए रेखांकित)

12.1. **शेंटन** बनाम **स्मिथ**[1] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल ने यह स्पष्ट किया था कि प्रसाद का सिद्धांत आवश्यक था क्योंकि उन सेवकों को पदच्युत करने में, जिनका पद पर बने रहना राज्य के लिए अहितकर था, यदि किसी जूरी (या न्यायालय) के समाधानप्रद रूप में किसी अपराध को साबित करना आवश्यक हुआ, इतनी कठिनाई होगी कि जो कि लोक सेवा के कामकाज में गंभीर रूप से अड़चन डालने वाली होगी ।

12.2 इस न्यायालय की संविधान पीठ ने **भारत संघ** बनाम **तुलसीराम पटेल**[2] वाले मामले में इस सिद्धांत के उद्‌भव को इस प्रकार स्पष्ट किया :–

"इंग्लैंड में, जहां कानून द्वारा अन्यथा उपबंधित हो उसके सिवाय कानून के सभी लोक अधिकारी और कर्मचारी क्राउन के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारित करते हैं अथवा अच्छे आचरण के दौरान, जिसे जब तक वह स्वयं अच्छा आचरण करता है, कहा जाता है, पद धारित करने के विरुद्ध नियुक्त करने वाले के प्रसादपर्यन्त पद धारित करते हैं । जब कोई व्यक्ति क्राउन के प्रसादपर्यन्त पद धारित करता है तो उसकी नियुक्ति कोई भी कारण समनुदेशित किए बिना किसी

---

[1] (1895) अपील केसेज़ 229.

[2] [1985] 4 उम. नि. प. 106 = (1985) 3 एस. सी. सी. 398.

भी समय समाप्त की जा सकती है । तथापि, क्राउन के प्रसादपर्यन्त का प्रयोग संसद् द्वारा अधिनियमित विधानमंडल द्वारा निर्बंधित किया जा सकता है क्योंकि यूनाइटेड किंगडम में संसद् प्रभुतासंपन्न है .....।"

(बल देने के लिए रेखांकित)

12.3. **बिहार राज्य** बनाम **अब्दुल मजीद**[1] वाले मामले में एक अन्य संविधान पीठ ने प्रसाद के सिद्धांत को इस प्रकार स्पष्ट किया :–

"इस 'नियम का उद्भव कि कोई सिविल सेवक क्राउन के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है, लेटिन वाक्यांश "दुरंते बेने प्लेसिटो (प्रसादपर्यन्त)" से हुआ है जिसका अर्थ यह है कि किसी सिविल सेवक की पदावधि, जहां कानून द्वारा अन्यथा उपबंधित हो उसके सिवाय, कोई कारण दिए बिना किसी भी समय समाप्त की जा सकती है । इस अभिव्यक्ति की सही परिधि और प्रभाव यह है कि यदि सिविल सेवक के साथ कोई विशेष संविदा की जाती है तो क्राउन उससे आबद्ध नहीं है । दूसरे शब्दों में, सिविल सेवक की पदच्युति कोई सूचना दिए बिना की जा सकती है और सदोष पदच्युति के लिए कार्रवाई का कोई अधिकार नहीं है, अर्थात्, यह कि वे अपनी सेवाओं के समयपूर्व पर्यवसान के लिए नुकसानी का दावा नहीं कर सकते ।"

12.4 एच. एम. सिरवई ने अपने शोध प्रबंध 'कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया' (चतुर्थ संस्करण, खंड 3, पृ. 2989-90) में प्रसादानुसार पदच्युत करने संबंधी इंग्लैंड के क्राउन की शक्ति को निम्नलिखित निबंधनों में स्पष्ट किया :–

"क्राउन के अधीन सिविल तथा सैनिक सेवा की संविदा में, कतिपय मामलों के सिवाय जहां विधि द्वारा अन्यथा उपबंधित हो, यह शर्त सम्मिलित की जाती है कि क्राउन को अपने प्रसादानुसार पदच्युत करने की शक्ति है...। जहां साधारण नियम अभिभावी होता है वहां क्राउन पदच्युति के लिए उचित कारण दर्शाने के लिए बाध्य नहीं है और यदि किसी सेवक को यह शिकायत होती है कि उसे अन्यायपूर्ण रूप से पदच्युत किया गया है तो उसका उपचार विधि वाद द्वारा नहीं

[1] [1954] एस. सी. आर. 786.

12-A—86 VSP/ND/11

होता है बल्कि शासकीय या राजनैतिक किस्म की अपील द्वारा होता है ... । यदि क्राउन का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई प्राधिकारी अभिव्यक्त अनुबंध द्वारा प्रसादानुसार पदच्युत करने संबंधी क्राउन की शक्ति को अपवर्जित करता है तो वह लोक नीति का अतिक्रमण होगा और वह अनुबंध प्रसादानुसार पदच्युत करने संबंधी क्राउन की शक्ति का अल्पीकरण नहीं कर सकता और यह ऐसे अनुबंध को लागू होगा कि सेवा विनिर्दिष्ट कालावधि की सूचना देने पर समाप्त की जानी थी । तथापि, जहां विधि द्वारा किसी नियत अवधि की संविदा करने के लिए प्राधिकृत किया जाता है या क्राउन के प्रसाद पर कतिपय निर्बंधन लगाए जाते हैं वहां प्रसाद में उस सीमा तक कमी आ जाती है और ऐसी विधि को प्रभावी किया जाना चाहिए ।"

12.5 ब्लैक कृत डिक्शनरी में 'प्रसाद नियुक्ति' की परिभाषा किसी व्यक्ति को ऐसा नियोजन देने के रूप में की गई है जिसे किसी भी समय सूचना या सुनवाई की किसी अपेक्षा के बिना छीना जा सकता है ।

13. सामंती ढांचे में यथा-विद्यमान प्रसाद के सिद्धांत और विधिसम्मत शासन द्वारा शासित किसी लोकतंत्र में प्रसाद के सिद्धांत के बीच विभेद है । उन्नीसवीं शताब्दी के सामंती ढांचे में क्राउन की उन्मुक्त शक्ति और विवेकाधिकार कोई नई धारणा नहीं थी । तथापि, विधि के नियम द्वारा शासित लोकतंत्र में, जहां किसी भी रूप में मनमानेपन का परिहार किया जाता है, किसी भी सरकार या प्राधिकारी को अपनी पसन्द के अनुसार कार्य करने का अधिकार नहीं है । प्रसाद के सिद्धांत का अभिप्राय मनमाने, सनकी या स्वेच्छाचारी रूप से कार्य करने की अनुज्ञप्ति नहीं है । यह उपधारणा की जाती है कि किसी लोक प्राधिकारी को आत्यांतिक और उन्मुक्त निबंधनों में प्रदत्त वैवेकिक शक्तियों का प्रयोग आवश्यकतः और स्पष्टतः युक्तियुक्त रूप से और लोक भलाई के लिए किया जाएगा ।

14. एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ (एच डब्ल्यू आर वेड एंड सी एफ फोरसिथ - 9वां संस्करण - पृ. 354-355) में किया गया निम्नलिखित श्रेष्ठ कथन इस संदर्भ में सुसंगत है :-

"अब तक उल्लिखित सभी नज़ीरों की सामान्य विषय-वस्तु यह है कि आत्यांतिक या उन्मुक्त विवेकाधिकार की विचारधारा अस्वीकार की जाती है । लोक प्रयोजनों के लिए प्रदत्त की जाने वाली कानूनी शक्ति इस प्रकार प्रदान की जाती है मानो कि वह विश्वास पर आधारित है न कि आत्यांतिक रूप से - अर्थात्, इसका प्रयोग

विधिमान्य रूप से केवल उस सही और उचित तरीके से किया जा सकता है जिसके बारे में यह धारणा की जाती है कि संसद् का यह शक्ति प्रदत्त करते समय आशय रहा हो । यद्यपि क्राउन के वकीलों ने अनेक मामलों में यह तर्क दिया है कि अनिर्बंधित अनुमत भाषा उन्मुक्त विवेकाधिकार प्रदत्त करती है, तथापि, सच्चाई यह है कि विधि के नियम पर आधारित किसी पद्धति में उन्मुक्त सरकारी विवेकाधिकार वस्तुतः परस्पर-विरोधी है । वास्तविक प्रश्न यह है कि विवेकाधिकार व्यापक है अथवा संकीर्ण और विधिक सीमा कहां लगाई जानी है । इस प्रयोजनार्थ, सब कुछ सशक्त करने वाले अधिनियम के सही आशय और अर्थ पर निर्भर करता है ।

अतः, लोक प्राधिकारियों की शक्तियां आवश्यक रूप से प्राइवेट व्यक्तियों की शक्तियों से भिन्न हैं । विल करने वाला कोई व्यक्ति, अपने आश्रितों के किन्हीं अधिकारों के अधीन रहते हुए अपनी संपत्ति का व्ययन उसी प्रकार कर सकेगा जैसी उसकी इच्छा हो । वह दुर्भावना से या बदले की भावना से कार्य कर सकता है किन्तु विधितः इससे उसकी शक्ति का प्रयोग करने पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है । इसी प्रकार, किसी प्राइवेट व्यक्ति को इस बात की आत्यांतिक शक्ति है कि वह अपनी पसन्द के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उसके हेतुक की परवाह किए बिना अपनी भूमि का उपयोग करने, किसी ऋणी को उन्मोचित करने या जहां विधि में अनुज्ञात हो, किसी किराएदार को बेदखल करने के लिए अनुज्ञात करे । यह उन्मुक्त विवेकाधिकार है । किन्तु कोई लोक प्राधिकारी तब तक इनमें से कुछ भी नहीं कर सकता जब तक वह युक्तियुक्त और सद्भाविक रूप से तथा लोक हित के विधिपूर्ण और सुसंगत आधारों पर कार्य नहीं करता । .....उन्मुक्त विवेकाधिकार की संपूर्ण धारणा ऐसे लोक प्राधिकारी के लिए अनुपयुक्त है जिसके पास वे शक्तियां केवल इसलिए हैं कि वह उनका प्रयोग लोक कल्याण के लिए कर सकेगा । ऐसी विधिक सीमाएं अधिरोपित करने में कुछ भी विरोधाभासी नहीं है । यह वास्तव में तब विरोधाभासी होगा यदि उन्हें अधिरोपित नहीं किया जाता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकित)

15. यह उल्लेख करना किंचित सुसंगत है कि 'प्रसाद का सिद्धांत' अपने आत्यांतिक अनिर्बंधित उपयोग में भारत में विद्यमान नहीं है । सरकारी नियोजन की दशा में उक्त सिद्धांत का कठोरतापूर्वक अल्पीकरण किया

गया है, जैसा कि अनुच्छेद 310 के खंड (2) और अनुच्छेद 311 के खंड (1) और खंड (2) से प्रकट होगा । अनुच्छेद 311 के खंड (2) के परन्तुक के अंतर्गत आने वाले मामलों के संबंध में भी इस सिद्धांत का लागू किया जाना अनिर्बंधित नहीं है किन्तु इस अर्थ में संयत रूप से निर्बंधित है कि उसमें उल्लिखित परिस्थितियां उसके प्रवर्तन के लिए विद्यमान होनी चाहिएं । **वेल्स** बनाम **न्यूफाउंड लैंड**[1] वाले मामले में कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आधुनिक नियोजन संबंधों के संदर्भ में "प्रसादपर्यन्त" सिद्धांत अब न्यायौचित्यपूर्ण नहीं है ।

16. **अब्दुल मजीद** वाले (उपर्युक्त) मामले में इस न्यायालय ने इस बात की परीक्षा करते समय प्रसाद के सिद्धांत की परिधि पर विचार किया था कि आंग्ल विधि का यह नियम भारत में लागू होता है अथवा नहीं कि कोई सिविल सेवक राज्य के विरुद्ध या क्राउन के विरुद्ध वेतन के बकाया की वसूली के लिए वाद फाइल कर सकता है क्योंकि वह क्राउन के प्रसादपर्यन्त पद धारण किए हुए था । इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि आंग्ल सिद्धांत भारत में लागू नहीं होता है । इस न्यायालय ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

> "यह सुझाव दिया गया था कि अपनाया जाने वाला सही दृष्टिकोण यह है कि जब कानून में यह कहा जाता है कि पद प्रसादपर्यन्त धारण किया जाएगा तो इसका अर्थ "प्रसादपर्यन्त" होता है और कोई भी नियम या विनियम उसमें परिवर्तन या उपांतरण नहीं कर सकता; न ही अधीनस्थ विधानमंडल द्वारा अधिनियमित सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60 का अर्थान्वयन किसी वरिष्ठ विधानमंडल के अधिनियम के रूप में किया जा सकता है । इसके अलावा, यह सुझाव दिया गया था कि "हिज मेजेस्टी के प्रसादपर्यन्त पद धारित करता है" शब्दों को कुछ अर्थ अवश्य दिया जाना चाहिए क्योंकि इन शब्दों को अनदेखा नहीं किया जा सकता और उनका वही अर्थ है प्रिवी कौंसिल ने उन्हें **आई. एम. लाल** (75 इंडियन अपील्स 225) वाले मामले में दिया है ।
>
> हमारे निर्णयानुसार, ये सुझाव इस अभिव्यक्ति की परिधि के भ्रम पर आधारित हैं । इस अभिव्यक्ति का संबंध सिविल सेवक की पदावधि से ही है और उसमें यह अस्पष्ट नहीं है कि कोई सिविल

[1](1999) 177 डी. एल. (चतुर्थ) 73 (एस. सी. सी.).

सेवक क्राउन की अनुग्रहपूर्वक सेवा करता है या उसका वेतन इनाम की प्रकृति का होता है । पुनः, इसका इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है कि वेतन के बकाया की वसूली के लिए क्राउन के विरुद्ध कोई वाद फाइल किया जा सकता है अथवा नहीं । दोनों नियमों का उद्भव भिन्न-भिन्न है और वे दो पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में प्रवर्तित होते हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकित)

17. इससे यह दर्शित होता है कि प्रसादपर्यन्त शब्दों से संलग्न 'आत्यांतिकता' पदावधि के संबंध में है और इनसे ऐसे कोई सांविधानिक या कानूनी निर्बंधन/परिसीमाएं प्रभावित नहीं होतीं जो लागू हो सकती हैं ।

18. संविधान में राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त धारित पदों (निर्बंधन रहित), राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त धारित पदों (निर्बंधन सहित) और ऐसी नियुक्तियों के प्रति निर्देश किया गया है जिन्हें उक्त सिद्धांत लागू नहीं होता है । भारत के संविधान के वे अनुच्छेद, जिनमें किन्हीं निर्बंधनों या परिसीमाओं के बिना राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करने के प्रति निर्देश किया गया है, मंत्रियों के संबंध में अनुच्छेद 75(2), महान्यायवादी के संबंध में अनुच्छेद 76(4) और राज्यपालों के संबंध में अनुच्छेद 156(1) हैं । इसी प्रकार, अनुच्छेद 164(1) और अनुच्छेद 165(3) में यह उपबंधित है कि मंत्री (राज्यों में) और राज्य का महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे ।

19. अनुच्छेद 311 के साथ पठित अनुच्छेद 310 में निर्बंधनों के अधीन रहते हुए 'प्रसादपर्यन्त' सिद्धांत लागू करने के उदाहरण का उपबंध किया गया है । अनुच्छेद 310 के खंड (1) का संबंध संघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की पदावधि प्रसाद के सिद्धांत के अध्यधीन होने के संबंध में है । तथापि, अनुच्छेद 310 का खंड (2) और अनुच्छेद 311 अनुच्छेद 310(1) में अंतर्विष्ट 'प्रसादपर्यन्त' सिद्धांत के प्रवर्तन को निर्बंधित करता है । सुविधा की दृष्टि से, हम प्रसाद के सिद्धांत के प्रति निर्देश करने वाले अनुच्छेद 310 के खंड (1) और प्रसाद के सिद्धांत पर निर्बंधन अंतर्विष्ट करने वाले अनुच्छेद 311 के खंड (2) को नीचे उद्धृत करते हैं :–

"310. **संघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की पदावधि** – (1) इस संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से यथा उपबंधित के सिवाय, प्रत्येक व्यक्ति जो रक्षा सेवा का या संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है अथवा रक्षा से संबंधित कोई पद या संघ के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है,

राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और प्रत्येक व्यक्ति जो किसी राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है या राज्य के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है, उस राज्य के राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है ।

xxx xxx xxx

311. **संघ या राज्य के अधीन सिविल हैसियत में नियोजित व्यक्तियों का पदच्युत किया जाना, पद से हटाया जाना या पंक्ति में अवनत किया जाना** –(1) xxx xxx

(2) यथापूर्वोक्त किसी व्यक्ति को, ऐसी जांच के पश्चात् ही, जिसमें उसे अपने विरुद्ध आरोपों की सूचना दे दी गई है और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दे दिया गया है, पदच्युत किया जाएगा या पद से हटाया जाएगा या पंक्ति में अवनत किया जाएगा, अन्यथा नहीं ।"

इस न्यायालय ने **पी. एल. ढींगरा** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में अनुच्छेद 310 के अधीन प्रसाद के सिद्धांत से संबंधित शर्तों के प्रति निर्देश किया :–

"इन अपवादों के अधीन रहते हुए हमारे संविधान ने अनुच्छेद 310(1) द्वारा आंग्ल कॉमन लॉ का यह नियम अंगीकृत किया कि लोक सेवक, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं और अनुच्छेद 311 द्वारा ऐसे प्रसाद के प्रयोग पर दो शर्तें अधिरोपित की गई हैं । यद्यपि वे दो शर्तें एक पृथक् अनुच्छेद में उपवर्णित की गई हैं, तथापि, वे पूर्णतः स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 310(1) में सन्निविष्ट नियम के प्रवर्तन को निर्बंधित करती हैं । दूसरे शब्दों में, अनुच्छेद 311 के उपबंध अनुच्छेद 310(1) के परन्तुक के रूप में प्रवर्तित होते हैं ।"

पुनः **मोती राम** बनाम **नार्थ ईस्ट फ्रंटियर रेलवे**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने उन शर्तों के प्रतिनिर्देश किया जिनके अध्यधीन सरकारी सेवकों के मामले में प्रसाद के सिद्धांत को बनाया गया था :–

---

[1] ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 36.
[2] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 600.

"लेटिन वाक्यांश 'दुरंते बेने प्लेसिटो' ('प्रसादपर्यन्त') में सारगर्भित रूप से अभिव्यक्त आंग्ल विधि से संबंधित नियम न तो गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 की धारा 240 द्वारा और न ही संविधान के अनुच्छेद 310(1) द्वारा पूर्णतः अंगीकृत किया गया है । राष्ट्रपति का प्रसाद स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 311 के उपबंधों द्वारा नियंत्रित होता है और इस प्रकार वह क्षेत्र जो कि अनुच्छेद 311 में प्रयुक्त सुसंगत शब्दों का ऋजु और युक्तियुक्त अर्थान्वयन करने पर उस अनुच्छेद के अंतर्गत आता है, प्रसाद के आत्यांतिक सिद्धांत के प्रवर्तन से अपवर्जित होगा । राष्ट्रपति का प्रसाद अब भी विद्यमान रहेगा किन्तु उसका प्रयोग अनुच्छेद 311 की अपेक्षाओं के अनुसार किया जाना है ।"

20. भारत के संविधान में ऐसे अन्य पदों के प्रति भी निर्देश है जिनके धारक राष्ट्रपति या किसी अन्य प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त पद धारण नहीं करते हैं । वे हैं – अनुच्छेद 56 के अधीन राष्ट्रपति; अनुच्छेद 124 के अधीन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश; अनुच्छेद 148 के अधीन भारत का नियंत्रक और महालेखापरीक्षक; अनुच्छेद 218 के अधीन उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ; भारत के संविधान के अनुच्छेद 324 के अधीन निर्वाचन आयुक्त । इन सांविधानिक कृत्यकारियों के मामले में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंधित है कि उन्हें महाभियोग के सिवाय, जैसा कि संबंधित उपबंधों में उपबंधित है, पद से हटाया नहीं जाएगा ।

21. इस प्रकार, भारत के संविधान में तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यकालों के लिए उपबंध है : (i) वे व्यक्ति जो राष्ट्रपति (या राज्यपाल) के प्रसादपर्यन्त पद धारित करते हैं; (ii) वे व्यक्ति जो निर्बंधनों के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति (या राज्यपाल) के प्रसादपर्यन्त पद धारित करते हैं; (iii) वे व्यक्ति जो विनिर्दिष्ट कालावधि के लिए पद धारित करते हैं और महाभियोग के सिवाय हटाए जाने से उन्मुक्त होते हैं, जो कि प्रसाद के सिद्धांत के अधीन नहीं होते हैं । संविधान सभा की बहस से यह स्पष्ट रूप से दर्शित होता है कि विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श करने के पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार के पदों के संबंध में हटाए जाने के विरुद्ध विभिन्न स्तरों के संरक्षण अंगीकृत किए गए थे । हम उन्हें सुविधापूर्वक प्रगणित कर सकते हैं : (i) वे पद जिन्हें प्रसाद का सिद्धांत किन्हीं निर्बंधनों के बिना आत्यांतिक रूप से लागू होता है (मंत्री, राज्यपाल, महान्यायवादी और महाधिवक्ता); (ii) वे पद जिन्हें प्रसाद का सिद्धांत निर्बंधनों सहित लागू होता है (रक्षा सेवा

के सदस्य, संघ की सिविल सेवा के सदस्य, अखिल भारतीय सेवा के सदस्य, रक्षा से संसक्त पदों के और संघ के अधीन किसी सिविल पद के धारक); और (iii) वे पद जिन्हें प्रसाद का सिद्धांत बिल्कुल भी लागू नहीं होता है (राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, भारत का नियंत्रक और महालेखापरीक्षक, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और निर्वाचन आयुक्त) । सांविधानिक स्कीम को ध्यान में रखते हुए, पदों के एक प्रवर्ग को अनुदत्त हटाए जाने से संबंधित संरक्षण के प्रकार को किसी दूसरे प्रवर्ग में मिलाना या वहां तक विस्तारित करना संभव नहीं है ।

22. प्रसाद का सिद्धांत, जैसी कि उसकी कल्पना मूल रूप में इंग्लैंड में की गई थी, एक विशेषाधिकार वाली शक्ति थी जो कि उन्मुक्त थी । इसका अभिप्राय यह था कि प्रसाद के अधीन किसी पद के धारक को किसी भी समय, सूचना दिए बिना, कारण बताए बिना और कोई कारण होने की आवश्यकता के बिना हटाया जा सकता था । किन्तु जहां विधि का नियम अभिभावी होता है वहां उन्मुक्त विवेकाधिकार या अनुत्तरदायी कार्रवाई जैसी कोई बात नहीं होती है । आवश्यकता की मात्रा किसी कारण से भिन्न हो सकती है । न्यायिक पुनर्विलोकन के दौरान संवीक्षा की मात्रा भिन्न हो सकती है । किन्तु कारण की आवश्यकता विद्यमान रहती है । परिणामस्वरूप, जब भारत के संविधान में यह उपबंध किया जाता है कि कुछ पद किन्हीं अभिव्यक्त परिसीमाओं या निर्बंधनों के बिना राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त धारित किए जाएंगे वहां तथापि, इसे आवश्यक रूप से इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि वह "संविधानवाद के मूल तत्वों" के अध्यधीन है । अतः, सांविधानिक ढांचे में जब कोई पद किसी प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त धारित किया जाता है, और यदि "प्रसादपर्यन्त" के सिद्धांत के संबंध में कोई परिसीमा या निर्बंधन नहीं लगाया जाता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि पद के धारक को उस प्राधिकारी द्वारा, जिसके प्रसादपर्यन्त वह पद धारण करता है, किसी भी समय सूचना दिए बिना और कोई कारण दर्शाए बिना हटाया जा सकता है । तथापि, प्रसाद का सिद्धांत मनमाने, सनकी या स्वेच्छाचारी रूप में कार्य करने के लिए उन्मुक्त विवेकाधिकार के साथ कार्य करने की अनुज्ञप्ति नहीं है । इससे प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए कारण होने की आवश्यकता को अभिमुक्ति नहीं मिलती । दूसरे शब्दों में, "प्रसादपर्यन्त" सिद्धांत किसी ऐसे व्यक्ति को जो किसी प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त पद धारण किए हुए हैं, संक्षिप्त रूप से कोई सूचना देने या हटाए जाने वाले व्यक्ति की सुनवाई करने की किसी बाध्यता के बिना और हटाए जाने या प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए कोई

कारण दर्शाने या कोई कारण प्रकट करने की किसी बाध्यता के बिना पद से हटाने में समर्थ बनाता है । प्रसाद का प्रत्याहरण प्राधिकारी की पसन्द, सनक और कल्पना के आधार पर नहीं हो सकता किन्तु वह केवल विधिमान्य कारणों के आधार पर हो सकता है ।

(iii) संविधान के अधीन राज्यपाल की स्थिति

23. राज्यपाल किसी राज्य के विधान मंडल का एक अभिन्न अंग होता है । उसमें तब अध्यादेश प्रख्यापित करने की विधायी शक्ति निहित होती है जब विधान मंडल के सदन सत्र में नहीं होते हैं । राज्य की कार्यपालक शक्ति उसमें निहित होती है और सरकार की प्रत्येक कार्यपालक कार्रवाई उसके नाम से की जाती है । वह दंड को क्षमा करने, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार करने की संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न शक्ति का प्रयोग करता है । उसमें विधान मंडल के प्रत्येक सदन को आहूत करने या किसी भी सदन का सत्रावसान करने या विधान सभा को विघटित करने की शक्ति निहित है । विधान मंडल के सदनों द्वारा पारित कोई भी विधेयक तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक कि उस पर उसकी अनुमति नहीं प्राप्त हो जाती । जहां उसे यह प्रतीत होता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है वहां उसे एक प्रतिवेदन करना होता है । इस प्रकार, वह एक ऐसा उच्च सांविधानिक पद धारण करता है जिसके महत्वपूर्ण सांविधानिक कृत्य और कर्तव्य होते हैं ।

24. **राजस्थान राज्य** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ ने राज्यपाल की स्थिति को इस प्रकार वर्णित किया है :–

> "67. भारत संघ की इकाई के रूप में राज्य के सांविधानिक प्रमुख के तौर पर राज्यपाल की, जिन्हें संविधान के अनुच्छेद 155 के अधीन 'राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा' नियुक्त करता है, हैसियत तथा संघ और राज्य सरकार के बीच संचार की औपचारिक सारणी पर भी हमारे समक्ष दलीलों में विचार किया गया था । एक ओर चूंकि राज्य के सांविधानिक प्रमुख के रूप में वह साधारणतः सांविधानिक परंपरा के नाते मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा द्वारा आबद्ध होता है जो कि उसे मुख्यमंत्री के माध्यम से प्रेषित की

---

[1] [1977] 4 उम. नि. प. 1107 = (1977) 3 एस. सी. सी. 592.

जाती है, उन आपवादिक परिस्थितियों को छोड़ कर जिनके अंतर्गत, जैसा कि मेरे विद्वान बंधु न्यायाधिपति भगवती और अय्यर ने शमशेर सिंह [(1974) 2 एस. सी. सी. 31] वाले मामले में संकेत किया है, ऐसी स्थिति भी है, जिसमें कि निर्वाचक मंडल को की गई अपील विघटन द्वारा अपेक्षित होती है दूसरी ओर, चूंकि वह 'संविधान और विधि' का संरक्षक और समस्त देश के हितों और विशेष रूप से वह अपने राज्य के लोगों के कल्याण का प्रहरी होता है, इसलिए राज्यपाल में कुछ विवेकात्मक शक्तियां निहित हैं जिनका प्रयोग करते हुए वह स्वतंत्र रूप से कार्यवाही कर सकता है । इसका एक स्वतंत्र कृत्य यह है कि वह संघ सरकार को रिपोर्ट भेजता रहता है जिसके आधार पर राष्ट्रपति की शक्ति उन्हें संविधान के अनुच्छेद 356(1) से प्राप्त है जिसका कि वह उपयोग कर सकता है । जहां तक कि वह जनता के व्यापक हितों में कार्य करता है और उसे 'संविधान या विधि की प्रतिरक्षा करने के लिए' राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया गया होता है, वह संघ की ओर से संप्रेक्षक के रूप में कृत्यशील रहता है ताकि इस बात का ध्यान रखा जा सके कि प्रशासनिक तंत्र और सांविधानिक सरकार का प्रत्येक अंग राज्य में किस प्रकार कृत्यशील है । जब तक कि वह सरकार के सभी कार्यकलापों पर इस प्रकार ध्यान नहीं देता और जनता की भावनाओं की स्थिति को ध्यान में नहीं रखता तब तक वह समाधानप्रद रूप से इस रिपोर्ट को देने के अपने कृत्य का निर्वहन नहीं कर सकता जो कि संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति के समाधान का आधार गठित करती है ।"

(बल देने के लिए रेखांकित)

कर्नाटक राज्य बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और वह उसके प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । केवल कुछ मामलों में ही उसे वैवेकिक शक्ति प्राप्त है किन्तु अन्य सभी मामलों में राज्य प्रशासन उसके द्वारा या उसके नाम में या मंत्रियों की सहायता और परामर्श से चलाया जाता है । प्रत्येक कार्य, यहां तक कि प्रत्येक मंत्री का कार्य, सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् का कार्य होता है और उसे संयुक्त और

[1] [1978] 2 उम. नि. प. 457 = (1977) 4 एस. सी. सी. 608.

सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत लागू होता है । किन्तु राज्यपाल, राज्य, कार्यपालिका और विधान मंडल के प्रमुख के रूप में राज्य के प्रशासन के बारे में केन्द्र को रिपोर्ट देने के लिए होता है ।"

हरगोविन्द पंत बनाम **डा. रघुकुल तिलक**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की एक अन्य संविधान पीठ ने राज्यपाल की प्रास्थिति को निम्न प्रकार स्पष्ट किया था :–

"राज्यपाल की इन सांविधानिक शक्तियों और कृत्यों के परिवर्णन से यह बात देखी जाएगी कि वह उस पद के किसी भी अर्थ में कर्मचारी या सेवक नहीं है । निस्संदेह यह सच है कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है जिससे अंततः और सारतः भारत सरकार अभिप्रेत है किन्तु वह उस नियुक्ति की एक पद्धति मात्र है और उससे राज्यपाल भारत सरकार का कर्मचारी या सेवक नहीं हो जाता है । राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक रूप से भारत सरकार का कर्मचारी नहीं होता । अतः यह तात्विक नहीं है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद के दौरान पद धारण करता है । राज्यपाल की पदावधि के अवधारण के लिए यह सांविधानिक उपबंध है और वह भारत सरकार को राज्यपाल का नियोजक नहीं बनाता है । राज्यपाल राज्य का मुखिया होता है और ऐसा उच्च सांविधानिक पद धारण करता है जिनके साथ महत्वपूर्ण सांविधानिक कृत्य और कर्तव्य जुड़े होते हैं और इसी कारण से उसे, इस भाषा को कितना ही अधिक तोड़ा-मरोड़ा क्यों न जाए, भारत सरकार का कर्मचारी या सेवक नहीं माना जाता है । वह भारत सरकार के निदेश के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है और न ही वह उस रीति के लिए उनके प्रति उत्तरदायी होता है, जिससे वह अपने कृत्यों और कर्तव्यों का पालन करता है । उसका ऐसा स्वतंत्र सांविधानिक पद है जो कि भारत सरकार के नियंत्रण के अध्यधीन नहीं है । वह सांविधानिक रूप से राज्य का ऐसा मुखिया होता है जिसमें राज्य की कार्यपालक शक्ति निहित होती है और जिसकी अनुमति के बिना राज्य की विधायी शक्ति के प्रयोग में कोई भी विधायन नहीं किया जा सकता । अतः, इस संबंध में कोई भी संदेह नहीं हो सकता है कि राज्यपाल का पद भारत सरकार के अधीन नौकरी नहीं है और वह अनुच्छेद 319 के खंड (घ) के प्रतिषेध की परिधि के भीतर नहीं आता ।......... यह

[1] [1980] 2 उम. नि. प. 846 = (1979) 3 एस. सी. सी. 458.

अभिनिर्धारित करना असंभव है कि राज्यपाल भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन है । उसका पद भारत सरकार के अधीनस्थ या मातहत नहीं है । वह भारत सरकार के निदेश के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न ही वह उस रीति के लिए उनके प्रति उत्तरदायी होता है जिससे वह अपने कृत्यों और कर्तव्यों का पालन करता है ।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

रामेश्वर प्रसाद (VI) बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने **हरगोविन्द पंत** वाले (उपर्युक्त) मामले में स्पष्ट की गई राज्यपाल की हैसियत को दोहराया और श्री जी. एस. पाठक, भूतपूर्व उप-राष्ट्रपति की इस टिप्पणी का भी उल्लेख किया कि "ऐसे क्षेत्र में जो कि मंत्रिपरिषद् की सलाह से आबद्ध है, स्पष्ट कारणों से राज्यपाल केन्द्र से स्वतंत्र होना चाहिए" क्योंकि ऐसे मामले हो सकते हैं "जहां केन्द्र की सलाह और राज्य की मंत्रिपरिषद् की सलाह में टकराव" हो और यह कि "ऐसे मामलों में राज्यपाल को केन्द्र की सलाह को अनदेखा कर देना चाहिए और मंत्रिपरिषद् की 'सलाह' के आधार पर कार्य करना चाहिए ।" हम एच. एम. सिरवई की कृति "कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया" [चतुर्थ संस्करण, खंड 2, पृष्ठ 2065] में उनकी निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों के प्रति भी निर्देश कर सकते हैं :—

"हमारे संविधान से यह स्पष्ट होता है कि राज्यपाल राष्ट्रपति का अभिकर्ता नहीं होता है क्योंकि जब राज्यपाल को राष्ट्रपति का अभिकर्ता बनाना आशयित था तब यह अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया गया था - जैसा कि पैरा 18(2), अनुसूची 6 (1972 में निरसित) में है । हमारे संविधान से यह भी स्पष्ट होता है कि राज्यपाल को अपने सांविधानिक कर्तव्यों का निर्वहन करने का भार सौंपा गया है । ऐसे मामलों में, जिनमें उसे अपने मंत्रियों की सलाह पर कार्य करना चाहिए - और वे उसकी कार्यपालक शक्ति का बहुत बड़ा भाग गठित करते हैं - उसके राष्ट्रपति का अभिकर्ता होने का प्रश्न उद्भूत नहीं हो सकता है ।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

25. इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि राज्यपाल की भूमिका दोहरी होती है । पहली भूमिका राज्य के सांविधानिक प्रमुख की होती है जहां वह अपनी

[1] (2006) 2 एस. सी. सी. 1.

मंत्रिपरिषद् की सलाह से आबद्ध होता है । दूसरी भूमिका संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कृत्य करना है । कतिपय विशेष/आपात स्थितियों में, वह संघ के विशेष प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य कर सकता है । उसे अपनी विभिन्न भूमिकाओं से संबंधित कृत्य प्रत्येक भूमिका की परिधि और क्षेत्र का अवधारण करके सौहार्दपूर्ण रूप से करने होते हैं । वह संघ सरकार का कर्मचारी नहीं होता है और न ही सत्तारूढ़ दल का अभिकर्ता होता है तथा न ही उसे राजनैतिक दलों के आदेशों के अधीन कार्य करना होता है । ऐसे अवसर हो सकते हैं जब उसे निष्पक्ष या तटस्थ निर्णायक की भूमिका निभानी हो जहां संघ सरकार और राज्य सरकारों के विचारों में परस्पर-विरोध हो । उसकी विशिष्ट स्थिति इस तथ्य से उद्भूत होती है कि भारतीय संविधान का स्वरूप परिसंघीयवत् है । **कर्नाटक राज्य** वाले (उपर्युक्त) मामले में इस न्यायालय ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

> "यथार्थतः, हमारा संविधान ऐसे परिसंघीय स्वरूप का नहीं है जहां पृथक्, स्वतंत्र और प्रभुत्वसंपन्न राज्यों के बारे में यह कहा जा सके कि वे एक राष्ट्र बनाने के लिए संयुक्त हुए हैं, जैसे कि संयुक्त राज्य अमरीका या संसार के अन्य कुछ देशों में स्थिति है, उसी कारण से उसे कभी-कभी परिसंघीयवत् स्वरूप का कहा गया है । न्यायपालिका के कर्तव्यों के अलावा यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाए तो केन्द्र और राज्यों के विधायी और कार्यपालिक कर्तव्य परिभाषित और विभाजित किए गए हैं, किन्तु फिर भी सभी कुछ केन्द्र के अधीन चलता है अथवा दोनों क्षेत्रों में बागडोर केन्द्र के हाथों में है ।"

एस. आर. बोम्मई बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने भारत के संविधान को परिसंघीयवत् रूप में वर्णित किया है, जो कि परिसंघीय और एकात्मक तत्वों का मिश्रण है किन्तु उसका पश्चात्वर्ती की ओर अधिक झुकाव है ।

26. भारतीय लोकतंत्र के प्रारंभिक चरण में एक ही राजनैतिक दल केन्द्र तथा राज्यों दोनों में सत्तारूढ़ रहा था । समय के साथ-साथ स्थिति में परिवर्तन आ गया है । अब राज्यों में विभिन्न राजनैतिक दल सत्ता में हैं जिनमें से कुछ राष्ट्रीय और कुछ क्षेत्रीय दल हैं । इसके अलावा, एक ही दल न तो केन्द्र में और न ही राज्य में सत्ता में हो सकता है । सरकार

---

[1] (1994) 3 एस. सी. सी. 1.

बनाने के लिए भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले विभिन्न दल एक मोर्चे का गठन कर सकते हैं । सांझा राजनीति के उद्भव के कारण अनेक क्षेत्रीय दलों ने केन्द्र में सत्ता में भागीदारी करना आरंभ कर दिया है । कई बार सत्ता में भागीदारी करने वाले दलों के बीच कोई सांझा कार्यक्रम, घोषणा-पत्र या कार्यसूची भी नहीं होती है । परिणामस्वरूप, राज्य में सत्तारूढ़ किसी राजनैतिक दल का कार्यक्रम या उसकी विचारधारा केन्द्र में सांझा सरकार में शामिल राजनैतिक दलों के कार्यक्रम या उनकी विचारधारा के अनुकूल नहीं हो सकती या केन्द्र में सांझा सरकार में शामिल कुछ राजनैतिक दलों के कार्यक्रम या उनकी विचारधारा के अनुकूल नहीं हो सकती है किन्तु केन्द्र में सांझा सरकार में शामिल कुछ अन्य राजनैतिक दलों के अनुकूल हो सकती हैं । इसके अलावा, सांझा राजनीति की मजबूरियां सत्ता में भागीदार दलों से यह अपेक्षा कर सकती हैं कि वे बारंबार अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में बदलाव करें । गठबंधन की राजनीति के बदलते आधारों में असंख्य नीतियों, विचारधाराओं, कार्यक्रमों की ऐसी पृष्ठभूमि में संघ सरकार के पास ऐसे राज्यपाल होने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता जो उसकी आशाओं और नीतियों के अनुकूल हों । राज्यपालों से सरकार की नीतियों या लोकप्रिय जनादेश को कार्यान्वित करने की प्रत्याशा या अपेक्षा नहीं की जाती है । उनकी सांविधानिक भूमिका स्पष्ट रूप से परिभाषित है और इसमें राजनैतिक असर की गुंजाइश बहुत सीमित है । हमने पहले ही यह उल्लेख कर दिया है कि राज्यपाल संघ सरकार का अभिकर्ता या कर्मचारी नहीं होता है । राज्य के सांविधानिक प्रमुख के रूप में वह कई बार राज्य सरकार के विचारों को अभिव्यक्त कर सकता है जो कि न तो उसके अपने और न ही केन्द्र सरकार के विचार हो सकते हैं (उदाहरणार्थ, जब वह संविधान के अनुच्छेद 176 के अधीन विशेष अभिभाषण देता है) । ऐसे ख्यातिप्राप्त वयोवृद्ध राजनेताओं, योग्य प्रशासकों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को, जो परिपक्व और अनुभवी हैं, राज्यपालों के रूप में नियुक्त करने की प्रत्याशा की जाती है । जबकि उनमें से कुछ राजनीतिक पृष्ठभूमि से आ सकते हैं किन्तु जैसे ही उन्हें राज्यपालों के रूप में नियुक्त कर दिया जाता है वे अपनी निष्ठा और भक्ति संविधान के प्रति रखते हैं न कि किसी राजनैतिक दल के प्रति और उनसे संविधान के परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण की अपेक्षा की जाती है (संविधान के अनुच्छेद 159 के अधीन राज्यपाल द्वारा शपथ या प्रतिज्ञान के निबंधन देखिए) । राष्ट्रपति की भांति राज्यपालों से यह प्रत्याशा की जाती है कि वे गैर-राजनैतिक हों और उनकी पूर्ववर्ती राजनैतिक

पृष्ठभूमि चाहे कुछ भी रही हो वे यथार्थतः सांविधानिक कृत्यों का निर्वहन करें । राज्यपाल राजनैतिक रूप से सक्रिय नहीं रह सकते । अतः, हम प्रत्यर्थियों की इस दलील को नामंजूर करते हैं कि राज्यपाल संघ सरकार की नीतियों के अनुकूल होने चाहिएं या उन्हें केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की विचारधारा का समर्थन करना चाहिए । चूंकि राज्यपाल न तो संघ सरकार का कर्मचारी और न ही अभिकर्ता होता है इसलिए हम इस दलील को भी नामंजूर करते हैं कि किसी राज्यपाल को तब हटाया जा सकता है जब संघ सरकार या सत्तारूढ़ दल उसमें "विश्वास" खो देता है ।

27. हम श्री जवाहरलाल नेहरू और डा. बी. आर. अम्बेडकर द्वारा संविधान सभा में हुए वाद-विवाद के दौरान राज्यपाल के पद के संबंध में (खंड 3, पृष्ठ 455 और 469) अभिव्यक्त मार्गदर्शन के प्रतिनिर्देश करके इस मुद्दे को समाप्त करेंगे । श्री नेहरू ने यह कहा :–

> "किन्तु समग्र रूप से संभवतः यह वांछनीय होगा कि बाहर से प्रतिष्ठित लोग लिए जाएं, कभी-कभी ऐसे लोग जिन्होंने राजनीति में अधिक भाग नहीं लिया है ।..... वह फिर भी जनता के समक्ष दल से थोड़ा ऊपर उठकर प्रतिनिधित्व करेगा और वह तद्द्वारा, वास्तव में उस सरकार की उससे अधिक सहायता करेगा यदि उसे दल के संगठन का एक भाग समझा जाता ।"

डा. बी. आर. अम्बेडकर ने यह कहा :–

> "यदि संविधान सैद्धांतिक रूप से वैसा ही रहता है जैसा हमारा आशय है कि वह होना चाहिए तो राज्यपाल यथार्थ रूप से सांविधानिक राज्यपाल होना चाहिए जिसे प्रांत के प्रशासन में हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं होनी चाहिए ..... ।"

(iv) भारत के संविधान के अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति पर परिसीमाएं/निर्बंधन

28. अब हम इस बात की परीक्षा करेंगे कि क्या अनुच्छेद 156(1) के अधीन राज्यपालों को हटाने की शक्ति पर कोई अभिव्यक्त या विवक्षित परिसीमाएं या निर्बंधन हैं । हम ऐसा न्यायमूर्ति होल्म्स के निम्नलिखित शब्दों को ध्यान में रखते हुए करते हैं :–

> "संविधान के उपबंध ऐसे गणितीय फार्मूले नहीं हैं जिनका सार उनके ढंग में होता है; वे व्यवस्थित और जीवंत संस्थाएं हैं... । इनका

महत्व अनिवार्य है न कि औपचारिक; इनका अर्थ केवल शब्दों और शब्दकोश के आधार पर नहीं लगाया जाना है बल्कि उनके उद्भव और उनकी विकास-रेखा पर विचार करके लगाया जाना है (**गोम्पर्स** बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स** (233 यू. एस. 603) वाला मामला देखिए) ।

अनुच्छेद 156 के खंड (3) का प्रभाव

29. याचियों की ओर से यह निवेदन किया गया था कि अनुच्छेद 156(1) के अधीन प्रसाद का सिद्धांत अनुच्छेद 156 के खंड (3) के अधीन अभिव्यक्त निर्बंधन के अध्यधीन है । यह निवेदन किया गया था कि अनुच्छेद 75(2) और अनुच्छेद 76(4) के बीच, जिसमें इस सिद्धांत को अनिर्बंधित रूप से लागू करने का उपबंध है और अनुच्छेद 156(1) के बीच जिसमें इस सिद्धांत को अनुच्छेद 156(3) के अधीन किसी निर्बंधन के अधीन रहते हुए लागू करने का उपबंध है, महत्वपूर्ण अंतर है । यह इंगित किया गया है कि मंत्रियों और महाधिवक्ता की दशा में, अनुच्छेद 75 और अनुच्छेद 76 में किसी पदावधि का उपबंध नहीं है जबकि अनुच्छेद 156 के खंड (3) में यह उपबंध है कि राज्यपालों की दशा में पदावधि पांच वर्ष होगी । यह निवेदन किया गया है कि अनुच्छेद 156 के खंड (1) को, जिसमें यह उपबंध है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा, अनुच्छेद 156 के खंड (3) के अनुरूप पढ़ा जाना चाहिए जिसमें यह उपबंध है कि खंड (1) के अधीन रहते हुए और अपने पद से त्यागपत्र देने संबंधी राज्यपाल के अधिकार के अधीन रहते हुए राज्यपाल अपने पदग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा । याची ने अनुच्छेद 156 के इन दोनों खंडों का निर्वचन इस प्रकार किया है : राज्यपाल की पदावधि पांच वर्ष है । तथापि, उस अवधि की समाप्ति से पूर्व राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे सकेगा या राष्ट्रपति उसकी शारीरिक/मानसिक असमर्थता, सत्यनिष्ठा और व्यवहार से संबंधित उचित और विधिमान्य कारणों से अपना प्रसाद प्रत्याहृत कर सकेगा और तदनुसार उसे पद से हटा सकेगा ।

30. अनुच्छेद 156 के पठन मात्र से यह दर्शित होता है कि जब किसी राज्यपाल को नियुक्त किया जाता है तब वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है जिसका अभिप्राय यह है कि राज्यपाल को किसी भी समय सूचना दिए बिना और कोई कारण बतलाए बिना हटाया जा सकता है । राज्यपाल भी किसी भी समय पद से त्यागपत्र दे सकता है । यदि राष्ट्रपति उसे पद से नहीं हटाता है और यदि राज्यपाल त्यागपत्र नहीं देता है तो

राज्यपाल की पदावधि उस तारीख से जब वह पदग्रहण करता है, पांच वर्ष के अवसान पर समाप्त हो जाएगी । खंड (3) का आशय अनुच्छेद 156 के खंड (1) के अधीन राज्यपाल को किसी भी समय हटाने की शक्ति पर निर्बंधन लगाना या उसे परिसीमित करना नहीं है । अनुच्छेद 156 के खंड (3) से केवल वह पदावधि उपदर्शित होती है जो कि राष्ट्रपति के प्रसाद के अध्यधीन है । इसके मुकाबले हम अनुच्छेद 310 और अनुच्छेद 311 के प्रतिनिर्देश कर सकते हैं जहां प्रसाद का सिद्धांत स्पष्टतः और निर्विवाद रूप से निर्बंधन के अध्यधीन है । अनुच्छेद 310 के खंड (1) में यह उपबंध है कि ऐसा व्यक्ति, जो संघ सरकार में सेवा कर रहा है, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और ऐसा व्यक्ति जो राज्य सरकार में सेवारत है, राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । "प्रसाद का सिद्धांत" अनुच्छेद 310(2) में किसी निर्बंधन और अनुच्छेद 311(1) और (2) में के निर्बंधनों के अध्यधीन है । अत्यंत महत्वपूर्ण निर्बंधन अनुच्छेद 311 के खंड (2) में अंतर्विष्ट है जिसमें यह उपबंध किया गया है कि किसी व्यक्ति को ऐसी जांच के पश्चात् ही, जिसमें उसे अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों की सूचना दे दी गई है और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दे दिया गया है, पदच्युत किया जाएगा या पद से हटाया जाएगा, अन्यथा नहीं । अनुच्छेद 310 का खंड (1) "इस संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से यथा उपबंधित के सिवाय" शब्दों से आरंभ होता है । अतः, अनुच्छेद 310 से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति/राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त संघ या राज्य में सेवा करता है तथापि, प्रसादानुसार हटाने की शक्ति संविधान के अन्य अभिव्यक्त उपबंधों के अध्यधीन है; और अनुच्छेद 311 में ऐसा अभिव्यक्त उपबंध अंतर्विष्ट है जो प्रसादानुसार हटाने की शक्ति पर परिसीमाएं लगाता है । इसके विपरीत, अनुच्छेद 156 के खंड (1) को संविधान के किसी अन्य उपबंध के अध्यधीन नहीं बनाया गया है और न ही उसे किसी अपवाद के अध्यधीन रखा गया है । खंड (3) को, जिसमें राज्यपाल के पद की पदावधि पांच वर्ष विहित की गई है, खंड (1) के अध्यधीन बनाया गया है जिसमें यह उपबंध है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । अतः, इस दलील को स्वीकार करना संभव नहीं है कि अनुच्छेद 156 का खंड (1) अनुच्छेद 156 के खंड (3) के अधीन किसी अभिव्यक्त निर्बंधन या परिसीमा के अध्यधीन है ।

आयोग की रिपोर्टें

31. याची ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि किसी राज्यपाल

13-A—86 VSP/ND/11

को ऐसे आदेश द्वारा हटाया जाना चाहिए जिसमें कारण प्रकट किए गए हों, केन्द्र-राज्य संबंधों पर सरकारिया आयोग की रिपोर्ट और संविधान के कार्यकरण के पुनर्विलोकन के लिए राष्ट्रीय आयोग की इस रिपोर्ट का अवलंब लिया कि राज्यपाल को अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर दिया जाना चाहिए और यह कि केवल बाध्यकारी कारणों से हटाया जाना चाहिए, और परिणामस्वरूप राज्यपालों की पदावधि को सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता पर बल दिया गया ।

32. केन्द्र-राज्य संबंधों पर सरकारिया आयोग की रिपोर्ट (खंड 1, अध्याय 4) में राज्यपाल की भूमिका पर विचार किया गया था और उसकी पदावधि के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की गई थीं :–

> "4.7.08....... हम यह सिफारिश करते हैं कि राज्यपालों की एक राज्य में पांच वर्ष की पदावधि में, अति विरलतम स्थिति और वह भी किसी अत्यधिक बाध्यकारी कारण के सिवाय, छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए । यह वास्तव में अत्यावश्यक है कि राज्यपाल के पद को पदावधि की सुरक्षा का अध्युपाय सुनिश्चित किया जाए ।"

आयोग द्वारा उक्त सिफारिश के लिए दिया गया कारण निम्नलिखित रूप में था :–

> "इसके अलावा, पांच वर्ष की पूर्ण अवधि से पूर्व कार्यकाल समाप्त किए जाने की सदैव विद्यमान संभाव्यता राज्यपाल के मन में पर्याप्त असुरक्षा पैदा कर सकती है और दबाव झेलने, बाहरी प्रभाव का विरोध करने और निष्पक्ष रूप से अपने वैवेकिक कृत्यों का निर्वहन करने संबंधी उसकी क्षमता का ह्रास कर सकती है । राज्यपालों को बार-बार एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरित करने से उसके पद की प्रतिष्ठा कम हो सकती है जो कि संघ तथा संबंधित राज्य दोनों के लिए अहितकर होगा । जैसा कि कुछ राज्य सरकारों ने इंगित किया है, संघ सरकार द्वारा राज्यपालों को एक राज्य से दूसरे राज्य में इस प्रकार बदला या स्थानांतरित नहीं किया जाना चाहिए मानो कि वे सिविल सेवक हों । उस दशा में संविधान द्वारा विहित राज्यपाल के पद की पांच वर्ष की पदावधि अपना काफी महत्व खो देती है ।"

आयोग ने कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान करने संबंधी सुझाव के पक्ष और विपक्ष में प्राप्त निम्नलिखित सुझावों का भी उल्लेख किया (पैरा 4.8.01) :–

कार्यकाल की सुरक्षा के पक्ष में सुझाव	कार्यकाल की सुरक्षा के विपक्ष में सुझाव
(i) राज्यपाल को कार्यकाल की गारंटी होनी चाहिए जिससे कि वह निष्पक्ष रूप से कृत्य कर सकें । राज्यपाल को हटाने के लिए सुझाई गई विभिन्न प्रक्रियाएं निम्न प्रकार हैं -	(i) राज्यपाल को कार्यकाल की गारंटी नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि-
(क) वही प्रक्रिया जो कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश के लिए है ।	(क) उसके कर्तव्यों और कृत्यों की प्रकृति और उनके निष्पादन की रीति किसी न्यायाधीश के कर्तव्यों और कृत्यों की प्रकृति और उनके निष्पादन की रीति से मूलतः भिन्न है । पूर्ववर्ती की भूमिका बहुपक्षी होती है और उसके कर्तव्य मुख्यतः न्यायिकेत्तर होते हैं जबकि एक न्यायाधीश के कर्तव्य संपूर्णतः न्यायिक होते हैं और उनका निर्वहन उसके स्वयं के स्वतंत्र निर्णयानुसार किया जाता है ;
(ख) संसदीय समिति द्वारा राज्यपाल के आचरण का अन्वेषण ।	
(ग) राज्य विधान मंडल द्वारा महाभियोग ।	
(घ) उच्चतम न्यायालय द्वारा जांच ।	(ख) ऐसे राज्यपाल को हटाना कठिन होगा जिसके पास अपेक्षित योग्यता और निष्पक्षता नहीं है या जो मुख्य मंत्री के साथ सहजता से कृत्य करने में सक्षम नहीं है या वह संघ के साथ समन्वय करके कृत्य नहीं करता ।
(ङ) मुख्य मंत्री की ओर से लिखित अनुरोध और उसके बाद विधान सभा का प्रस्ताव ।	
(च) अंतरराज्यीय परिषद् की सिफारिश	

आयोग ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पश्चात् कार्यकाल की सुरक्षा के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :–

"4.8.07 जबकि राज्यपाल को कार्यकाल के संबंध में वही सुरक्षा प्रदान करना उचित होगा जैसी कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को सुनिश्चित की गई है किन्तु राज्यपाल के कार्यकाल को समयपूर्व समाप्त करने के लिए राष्ट्रपति के प्रसाद की मनमाने रूप से प्रत्याहरण के विरुद्ध कुछ सुरक्षोपाय अवश्य किए जाने

चाहिए । इस पद के लिए पांच वर्ष की अवधि विहित करने के पीछे संविधान निर्माताओं का यह आशय प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति का वह प्रसाद, जिस पर राज्यपाल का कार्यकाल निर्भर है, कारण दर्शाए बिना प्रत्याहृत नहीं किया जाएगा । कोई अन्य निष्कर्ष निकालने से अनुच्छेद 156 का खंड (3) व्यापक रूप से अनावश्यक हो जाएगा । किन्तु यह उचित होगा कि राज्यपाल का हटाया जाना ऐसी प्रक्रिया पर आधारित हो जिसमें उसे उसके प्रश्नगत आचरण को स्पष्ट करने का अवसर प्रदान किया जाता है और उसके स्पष्टीकरण पर, यदि कोई है, उचित विचार करना सुनिश्चित होता है ।

4.8.08 जहां राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है वहां के सिवाय, कि राज्य की सुरक्षा के हित में अच्छी प्रथा के तौर पर ऐसा करना समीचीन नहीं है, जब कभी पांच वर्ष की सामान्य अवधि की समाप्ति से पूर्व किसी राज्यपाल के कार्यकाल को समाप्त करना प्रस्तावित हो वहां उसे प्रस्तावित कार्रवाई के आधारों से औपचारिक रूप से अवगत कराया जाना चाहिए और उसके विरुद्ध कारण दर्शाने का युक्तियुक्त अवसर प्रदान किया जाना चाहिए । यह वांछनीय है कि राष्ट्रपति (जिससे वस्तुतः संघ का मंत्रिपरिषद् अभिप्रेत है) को राज्यपाल द्वारा उसे प्रस्तावित पद से हटाने के विरुद्ध स्पष्टीकरण, यदि कोई है, लेना चाहिए और इसकी परीक्षा परामर्शी समूह द्वारा, जिसमें भारत का उप-राष्ट्रपति और लोक सभा का अध्यक्ष या भारत का एक सेवानिवृत्त मुख्य न्यायमूर्ति हो, कराई जानी चाहिए । राष्ट्रपति इस समूह की सिफारिशें प्राप्त करने के पश्चात् इस मामले में ऐसे आदेश पारित कर सकेगा, जो वह उचित समझे ।

4.8.09. हम यह सिफारिश करते हैं कि जब कोई राज्यपाल, पांच वर्ष की सामान्य अवधि के अवसान से पूर्व त्यागपत्र देता है या उसे किसी अन्य राज्य में राज्यपाल नियुक्त किया जाता है या उसका कार्यकाल समाप्त कर दिया जाता है तो संघ सरकार संसद् के दोनों सदनों के समक्ष उन परिस्थितियों को स्पष्ट करते हुए, जिनके परिणामस्वरूप उसका कार्यकाल समाप्त हुआ है, एक विवरण प्रस्तुत कर सकेगी । जब किसी राज्यपाल को उसके कार्यकाल की समयपूर्व समाप्ति के विरुद्ध कारण दर्शाने का अवसर दिया गया है तब उस विवरण में उसके द्वारा उत्तर में दिया गया स्पष्टीकरण भी शामिल किया जा सकेगा । इस प्रक्रिया से संसद् के नियंत्रण तथा उसके

प्रति संघ की कार्यपालिका की जवाबदेही को बल मिलेगा ।"

अंतरराज्जीय परिषद् ने सरकारिया आयोग की उक्त सिफारिश को स्वीकार कर लिया । यह कथन किया गया है कि इसके पश्चात् मामला केन्द्रीय सरकार के समक्ष विचाराधीन लंबित है ।

33. इसके बाद लोक राय जानने और सार्वजनिक बहस को बढ़ावा देने के लिए सांविधान के कार्यकरण का पुनर्विलोकन करने वाले राष्ट्रीय आयोग द्वारा संविधान के अधीन राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में प्रकाशित परामर्श-पत्र के प्रतिनिर्देश किया गया था । प्रस्तावित सिफारिशें निम्नलिखित रूप में थीं :–

"तदनुसार, हम यह सिफारिश करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 155 और अनुच्छेद 156 में इस प्रकार संशोधन किया जाए जिससे कि निम्नलिखित बातों के लिए उपबंध हों –

(क) राज्यपाल की नियुक्ति का काम एक ऐसी समिति को सौंपा जाना चाहिए जिसमें भारत के प्रधानमंत्री, केन्द्रीय गृह मंत्री, लोक सभा के अध्यक्ष और संबंधित राज्य के मुख्य मंत्री हों । (निस्संदेह, समिति का गठन एक विस्तृत विषय है जिसे कभी भी तय किया जा सकता है जब एक बार मूल विचार को स्वीकार कर लिया जाता है ;

(ख) पदावधि, अर्थात्, पांच वर्ष को नियत कार्यकाल बनाया जाना चाहिए ;

(ग) इस उपबंध का लोप किया जाए कि राज्यपाल 'राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त' पद धारण करता है ;

(घ) राज्य विधान मंडल द्वारा राज्यपाल के महाभियोग के लिए उसी प्रकार उपबंध किए जाएं जैसे कि संसद् द्वारा राष्ट्रपति के महाभियोग के लिए किए गए हैं । (राष्ट्रपति के महाभियोग के लिए प्रक्रिया अनुच्छेद 61 में उपवर्णित है) । निस्संदेह, यदि किसी राज्य में विधान मंडल का ऊपरी सदन नहीं है वहां प्रस्थापित अनुच्छेद में समुचित परिवर्तन करने होंगे चूंकि अनुच्छेद 61 संसद् के दोनों सदनों के अस्तित्व पर आधारित है ।"

हम राष्ट्रीय आयोग द्वारा प्राप्त उत्तरों पर विचार करने के पश्चात् की गई

सिफारिशों के सुसंगत प्रभाग नीचे उद्धृत करते हैं (जो कि उनसे भिन्न हैं जो कि प्रस्थापित थीं) :–

> "8.14.2 जनता के उत्तरों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् और पूर्ण रूप से विचार-विमर्श करने के पश्चात् आयोग राज्यपालों के चयन और उनकी नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति की शक्तियों को कम करने के लिए सहमत नहीं है । तथापि, आयोग यह महसूस करता है कि किसी राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य के मुख्य मंत्री से परामर्श करने के पश्चात् की जानी चाहिए । सामान्यतः पांच वर्ष की अवधि का पालन किया जाना चाहिए और राज्यपाल को उसी प्रक्रिया का अनुसरण करके, जैसी कि उसकी नियुक्ति के लिए है, अर्थात् संबंधित राज्य के मुख्य मंत्री से परामर्श करने के पश्चात् हटाया या स्थानांतरित किया जाना चाहिए ।
>
> 8.14.3 आयोग यह सिफारिश करता है कि राज्यपाल के चयन के मामले में सरकारिया आयोग की रिपोर्ट के खंड 1 के पैरा 4.16.01 में उल्लिखित निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए –
>
> - वह जीवन के किसी क्षेत्र में प्रतिष्ठित होना चाहिए ।
> - वह राज्य के बाहर का व्यक्ति होना चाहिए ।
> - वह असंबद्ध व्यक्ति होना चाहिए और उसका राज्य की स्थानीय राजनीति से अधिक घनिष्ठ संबंध नहीं होना चाहिए ।
> - वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने साधारणतया और विशेष रूप से हाल ही में राजनीति में अधिक भाग न लिया हो ।"

34. ये सिफारिशें, चाहे वे कितनी ही तर्कसम्मत या विचार या स्वीकार किए जाने योग्य क्यों न हो, सिफारिशें ही रहीं । वे संविधान के यथा-विद्यमान अभिव्यक्त उपबंधों पर अध्यारोही नहीं हो सकती हैं । न ही वे अनुच्छेद 156 का निर्वचन करने में सहायक हो सकती हैं । इस तथ्य से ही कि ऐसी सिफारिशें की गई हैं, यह दर्शित होता है कि विद्यमान सांविधानिक उपबंधों के अधीन स्थिति इसके विपरीत है । ये ऐसे सुझाव हैं जिन पर उन लोगों को विचार करना है जो संविधान में संशोधन कर सकते हैं । वे संविधान के विद्यमान उपबंधों का निर्वचन करने में सहायता नहीं

करते हैं ।

संविधान सभा बहस

35. दोनों पक्षों ने अनुच्छेद 156(1) के अपने-अपने निर्वचन के समर्थन में संविधान सभा की बहस का अवलंब लिया । याचियों ने यह दलील दी कि संविधान निर्माताओं ने इस उपधारणा के आधार पर कार्यवाही की थी कि पद से हटाया जाना केवल रिश्वत और भ्रष्टाचार, संविधान का अतिक्रमण करने या किसी ऐसे अन्य विधिसम्मत आधार पर होगा जिसे राज्यपाल की ओर से किसी कार्य या लोप के कारण हुआ माना जा सकता है । प्रत्यर्थियों ने यह इंगित किया कि कार्यकाल की सुरक्षा और अन्य अनुकल्पों पर विचार किया गया था और सोच-विचार कर इस विकल्प को नामंजूर कर दिया गया था कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे ।

36. संविधान सभा की बहस से यह दर्शित होता है कि श्री के. टी. शाह ने इस संशोधन का प्रस्ताव दिया था कि "राज्यपाल उस तारीख से जब वह पदग्रहण करता है, पांच वर्ष की अवधि के लिए पद धारण करेगा और उस अवधि के दौरान उसे अपने पद से हटाया जा सकेगा ।" उसने यह खंड जोड़ने के लिए एक अन्य संशोधन का प्रस्ताव दिया कि राज्यपाल को सम्यक् रूप से प्रमाणित शारीरिक या मानसिक असक्षमता के कारण या यदि उसे रिश्वत या भ्रष्टाचार का दोषी पाया जाता है तो पद से हटाया जा सकेगा । उसने यह कहा :—

> "जैसा कि मेरा विचार है, यह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त नियुक्ति से मूलतः भिन्न है । मैं जानता हूं कि सदन ने अभी एक प्रस्ताव पारित किया है जिसके द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जानी है और अब किसी भी व्यक्ति के लिए उस प्रस्थापना को प्रश्नगत करना असंभव होगा । तथापि, मैं यह इंगित करना चाहता हूं कि इस बात को ध्यान में रखते हुए कि यह नियुक्ति निर्वाचक सिद्धांत के विरुद्ध है हमें राज्यपाल को पूर्णतः राष्ट्रपति के प्रसाद की दया पर नहीं छोड़ देना चाहिए । किसी भी हालत में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि उसे प्रांत का सांविधानिक मुखिया होना है, यदि उसे अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करना है, यदि हम ऐसे किसी आक्षेप को हटाना चाहते हैं जो कि नामनिर्देशन के सिद्धांत में संभव हो सकता है, तो हमें बात को ध्यान

में रखना चाहिए कि कम से कम जब वह अपने मंत्रियों की सलाह का अनुपालन करते हुए संविधान के अनुसार सही कार्य कर रहा हो तब उसे राष्ट्रपति की, जो कि प्रांत से बाहर होता है और एक राष्ट्रीय न कि स्थानीय प्राधिकारी है, दया पर निर्भर नहीं होना चाहिए । यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब ऐसी परम्परा को जैसी कि पूर्व वक्ताओं में से एक वक्ता द्वारा सुझाई गई थी विकसित करना लंबित हो कि यह नियुक्ति, यदि सहमति हो जाती है तो स्थानीय मंत्रालय की सलाह पर होनी चाहिए । मैं यह नहीं जानता कि क्या भारत में ऐसी परम्परा विकसित हो सकती है किन्तु भले ही यह विकसित हो जाती है और विशेष रूप से यदि यह विकसित हो जाती है तो यह अत्यंत महत्वपूर्ण होगा कि केन्द्र के किसी भी गैर-प्रांतीय प्राधिकारी को यह कहने की शक्ति नहीं होनी चाहिए कि राज्यपाल उस प्राधिकारी द्वारा हटाए जाने योग्य होना चाहिए । जब तक कि वह प्रांत के सांविधानिक सलाहकारों की सलाह के अनुसार कार्य करता है तब तक, मैं समझता हूं कि उसे उसकी पदावधि, अर्थात् इस अनुच्छेद के अनुसार पांच वर्ष, के दौरान हटाया नहीं जा सकना चाहिए ।

निस्संदेह, स्वेच्छया त्यागपत्र देने या ऐसी अन्य आकस्मिकताओं के घटित होने के संबंध में कतिपय उपबंध हैं जिनके द्वारा राज्यपाल को हटाया जा सकेगा । किन्तु, उसके अधीन और इसलिए संपूर्ण संविधान के अधीन रहते हुए वह अवधि संपूर्ण अवधि होनी चाहिए न कि राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त होनी चाहिए ।"

प्रोफेसर शिब्बन लाल सक्सेना ने भी प्रस्थापित अनुच्छेद (प्रस्तुत रूप में) के बारे में आक्षेप किया । उसने इस प्रकार कहा :–

"अभी-अभी हमने ऐसे उपबंध को स्वीकृति दी है जिसके द्वारा राज्यपाल को राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट किया जाएगा । पहले ही हम यह महसूस करते हैं कि उसमें लोकतंत्र का परित्याग किया गया है । अब, महोदय, यह उपबंध लाया गया है जिसके द्वारा राज्यपाल केवल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । उच्चतम न्यायालय की दशा में भी हमने यह उपबंध किया है कि एक बार जब उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कर दी जाती है तो उन्हें केवल संसद् के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पेश करके और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा ही हटाया जा सकेगा । राज्यपाल की दशा में आप एक पृथक् उपबंध बनाना चाहते

हैं । महोदय, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक असाधारण प्रक्रिया होने के कारण यह राज्यपाल की स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से छीनती है । वह पूर्णतः राष्ट्रपति, अर्थात् प्रधानमंत्री और केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की कठपुतली होगा । जब एक बार राज्यपाल की नियुक्ति कर दी जाती है तो मैं यह नहीं समझता कि वह अपनी पांच वर्ष की पूर्ण अवधि तक पद पर क्यों नहीं बना रहना चाहिए और वह राष्ट्रपति द्वारा उसकी मर्जी से क्यों हटाया जा सके । इसका केवल यह अभिप्राय है कि वह पद पर बने रहने के लिए राष्ट्रपति पर निर्भर रहना चाहिए और इस प्रकार वह उसका चापलूस बना रहे । वह स्वतंत्र नहीं हो सकता है । तब उसका कोई सम्मान नहीं होगा । महोदय, डा. अम्बेडकर ने इस बारे में कोई कारण नहीं दिया है कि उसने यह परिवर्तन क्यों किया है । निस्संदेह, राज्यपाल को निर्वाचन से मुक्त रखा गया है किन्तु उसे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त हटाया क्यों जा सके । मूल अनुच्छेद में यह कहा गया है 'राज्यपाल को संविधान के अतिक्रमण के लिए महाभियोग द्वारा हटाया जा सकेगा ।' ... इसका अभिप्राय यह है कि राज्यपाल को केवल दोनों सदनों के महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है । अब, वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त बना रहेगा । ऐसे राज्यपाल को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होगी और मेरा प्रश्न यह है कि केन्द्र सरकार उस व्यक्ति के माध्यम से कुछ रिष्टि करने का प्रयास कर सकती है । भले ही उसे नामनिर्देशित किया जाता है तो भी यदि उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसे हटाया जा सकता है तो वह कम ही स्वतंत्र हो सकता है । अब उसे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद पर बने रहने का उपबंध करके आप उसकी स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से छीन रहे हैं । यह एक गंभीर विचलन है और मुझे आशा है कि सदन इस पर अत्यंत सावधानीपूर्वक विचार करेगा । जब तक डा. अम्बेडकर यह परिवर्तन करने के लिए ठोस कारण देने में समर्थ नहीं होते तब तक मुझे आशा है कि वे अपना संशोधन वापस ले लेंगे ।"

श्री लोकनाथ मिश्र ने किंचित पृथक् दृष्टिकोण अपनाया :—

"अध्यक्ष महोदय, यह विनिश्चय कर लेने के पश्चात् कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाएंगे, इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि प्रारूप संविधान में के संबद्ध उपबंध तद्नुसार संशोधित किए जाने चाहिएं और उस दृष्टिकोण को ध्यान में

रखते हुए मैं उस संशोधन को स्वीकार करता हूं जो कि अब डा. अम्बेडकर द्वारा लाया गया है । उस संशोधन से यह संकेत मिलता है कि राज्यपाल को राष्ट्रपति की मर्जी से हटाया जा सकेगा, अर्थात्, राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा और यह कि जब कभी वह राष्ट्रपति की नाराजगी का कारण बनेगा तो उसे हटा दिया जाएगा । जब राष्ट्रपति ने किसी व्यक्ति को नियुक्त किया है तो उचित यह होगा कि राष्ट्रपति को उसे हटाने का अधिकार भी होना चाहिए जब वह उससे नाराज होता है किन्तु इस दोष को दूर करने के लिए, जो कि अब राज्यपाल के पद के लिए निर्वाचन समाप्त करने से पैदा हुआ है, यह और भी अधिक बेहतर होता यदि राज्य विधान मंडल को भी न केवल संविधान का अतिक्रमण करने के कारण किन्तु कदाचार के कारण भी महाभियोग चलाने की शक्ति प्रदान कर दी गई होती । मैंने जानबूझकर 'कदाचार' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि जब किसी ऐसे राज्यपाल को, जो कि आवश्यक रूप से उस प्रांत का व्यक्ति नहीं है, उस पद पर नियुक्त कर दिया जाता है तो यह स्वाभाविक है कि उस प्रांत के लोगों के पास कम से कम उनके द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से उस पर निगरानी रखने और उसकी आलोचना करने की शक्ति होनी चाहिए । यदि वह अधिकार दिया गया होता, दूसरे शब्दों में, यदि राज्य विधान मंडलों द्वारा राज्यपालों के महाभियोग के लिए उपबंध होता तो यह राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की अनुचित नियुक्ति करने के विरुद्ध एक सुरक्षोपाय होता । राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति किए जाने के संबंध में मुख्य आक्षेप यह है कि वह ऐसा व्यक्ति होगा जिसकी उस प्रांत में कोई जड़ें नहीं हैं और कुछ सांझा नहीं है यह कि वह ऐसा व्यक्ति होगा जिसका लोगों से कोई संबंध नहीं है, यह कि वह ऐसा व्यक्ति होगा जो उनकी पहुंच से परे होगा और इसलिए वह तब तक प्रसन्नतापूर्वक पद पर बना रहेगा जब तक राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और उस प्रांत के प्रमुख को प्रसन्न रखता है । किन्तु ऐसा नहीं है । यह और भी बेहतर होता यदि राज्यपाल का हटाया जाना न केवल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त बल्कि राज्य विधान मंडल की नाराजगी पर भी निर्भर होता, क्योंकि विधान मंडल लोगों का प्रतिनिधित्व करता है और यह उस त्रुटि के विरुद्ध एक सुरक्षोपाय होता जो कि राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति करने के लिए उपबंध करके कारित की गई है ।"

डा. बी. आर. अम्बेडकर ने इस प्रकार उत्तर दिया :–

"महोदय, स्थिति यह है : हटाने संबंधी यह शक्ति राष्ट्रपति को साधारण निबंधनों में प्रदान की गई है । प्रोफेसर शाह यह चाहते हैं कि राज्यपाल को हटाने के लिए संविधान में ही कतिपय आधारों का कथन किया जाना चाहिए । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब आप सामान्य शक्ति प्रदान करते हैं तो आप राष्ट्रपति को भ्रष्टाचार के लिए, रिश्वत के लिए, संविधान का अतिक्रमण करने के लिए या किसी अन्य कारण के लिए, जिसे राष्ट्रपति निस्संदेह राज्यपाल को हटाने के लिए विधिसम्मत आधार समझता है, राज्यपाल को हटाने की शक्ति भी प्रदान करते हैं । अतः, संविधान को अभिव्यक्त निबंधनों में कथित इन सभी परिसीमाओं से बोझिल करना पूर्णतः अनावश्यक प्रतीत होता है जब कि राष्ट्रपति के लिए यह पूर्णतः संभव है कि वह उसी आधार पर इस फार्मूले के अधीन कि राज्यपाल उसके प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा, कार्यवाही कर सके । अतः, मैं यह समझता हूं कि उन शर्तों को वर्गीकृत करना अनावश्यक है जिसके अधीन राष्ट्रपति राज्यपाल को हटाने की कार्यवाही कर सकेगा ।"

37. इसके पश्चात्, श्री के. टी. शाह, प्रोफेसर शिब्बन लाल सक्सेना और श्री लोकनाथ मिश्रा द्वारा प्रस्थापित सुझावों/संशोधनों को नामंजूर करते हुए अनुच्छेद को प्रस्तुत रूप में अंगीकार किया गया था । इस बहस से यह दर्शित होता है कि अनेक अनुकल्पों पर विचार किया गया था और अंततः अनुच्छेद को उसके प्रस्तुत रूप में अंगीकार किया गया था । तथापि, बहस से निम्नलिखित बातें प्रकट होती हैं :–

(i) संविधान निर्माताओं का आशय राज्यपालों को हटाने के संबंध में महाभियोग या जांच की बजाय प्रसाद के सिद्धांत का मार्ग अपनाना था ।

(ii) यह माना गया था कि प्रसाद का प्रत्याहरण, जिसके परिणामस्वरूप राज्यपाल को हटाया जाएगा, विधिमान्य आधारों पर होगा किन्तु उन्हें अनुच्छेद में प्रगणित करने की आवश्यकता नहीं है ।

38. एच. एम. सिरवई कृत कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया (चतुर्थ संस्करण, खंड 2, पृष्ठ 2066) में अनुच्छेद 156(1) के परिधि के प्रति इस प्रकार निर्देश किया गया है :–

"तथापि, इस तथ्य से एक कठिनाई उद्‌भूत होती है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और वह उसके द्वारा हटाया जा सकता है । चूंकि राष्ट्रपति अपने मंत्रालय की सलाह पर कार्य करता है इसलिए यह दलील दी जा सकती है कि यदि राज्यपाल संघ सरकार की नीति के प्रतिकूल कार्रवाई करता है तो उसे राज्यपाल के रूप में अपने पद से हटाए जाने का जोखिम उठाना होगा और इसलिए उसके द्वारा संघ सरकार की सलाह का अनुसरण किए जाने की संभावना है । इस दलील के बल से इनकार न करते हुए यह दलील दी जाती है कि कोई उत्तरदायी संघ सरकार किसी राज्यपाल को इस कारण हटाने की सलाह नहीं देगी और इस प्रकार सलाह देना न्यायोचित भी नहीं होगा क्योंकि राज्यपाल अपने कर्तव्य का ईमानदारी से निर्वहन करते हुए ऐसी कार्रवाई करता है जो कि संघ सरकार की नीति के अनुरूप नहीं है । इससे अन्यथा अभिनिर्धारित करने का अभिप्राय यह होगा कि संघ कार्यपालिका राज्य कार्यपालिका को प्रभावी रूप से नियंत्रित करेगी जो कि हमारे परिसंघीय संविधान की मूलभूत स्कीम के विपरीत है । अनुच्छेद 156(1) यह सुनिश्चित करने के लिए तैयार किया गया है कि यदि राज्यपाल ऐसे मार्ग अपना रहा है जो कि राज्य या भारत के लिए अहितकर हैं तो राष्ट्रपति राज्यपाल को उसके पद से हटा सकता है और किसी अन्य राज्यपाल की नियुक्ति कर सकता है । यह शक्ति महाभियोग का स्थान लेती है जो कि स्पष्ट रूप से विरलतम और आपवादिक परिस्थितियों में प्रयोग की जाने वाली शक्ति है ।"

39. जैसी कि ऊपर अवेक्षा की गई है, किसी निर्बंधन के बिना किसी प्राधिकारी के प्रसादपर्यन्त हटाने संबंधी उपबंध राज्यपालों के अलावा मंत्रियों तथा महाधिवक्ता को भी लागू होता है । इन पदों को भरने के लिए योग्यता, अनुभव और विशिष्टताओं वाले व्यक्तियों को चुना जाता है । इन व्यक्तियों को अपनी जीविका उपार्जित करने में समर्थ बनाने के लिए नहीं चुना जाता बल्कि समाज की सेवा करने के लिए चुना जाता है । यह मानना गलत है कि चूंकि ऐसे व्यक्तियों को उनकी महिमा, परिपक्वता और अनुभव के कारण चुना जाता है इसलिए जब तक कार्यकाल की सुरक्षा नहीं होती तब तक वे हतोत्साहित होंगे या उनमें हटाए जाने का सतत भय बना रहेगा । जब वे इन पदों को स्वीकार करते हैं तब उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि वे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे ।

कारण देने की आवश्यकता

40. याची ने यह दलील दी है कि राज्यपाल को केवल उन बाध्यकारी कारणों से हटाया जा सकता है जिनका संबंध राज्यपाल के रूप में कृत्य करने संबंधी उसकी क्षमता से है । याची के अनुसार, शारीरिक या मानसिक अक्षमता, भ्रष्टाचार या नैतिक अधमता के कृत्य या ऐसा व्यवहार, जो कि राज्यपाल के लिए अशोभनीय है, जैसे सक्रिय राजनीति में अंतर्वलित रहना या विघटनकारी गतिविधियों में आलिप्त रहना, हटाए जाने के लिए विधिमान्य कारण हैं । दूसरे शब्दों में, यह दलील दी गई है कि इससे पूर्व कि राज्यपाल को हटाया जा सके, राज्यपाल में या उसके कृत्यों में कुछ दोष या त्रुटिं होनी चाहिए । दूसरी ओर, प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी है कि यह आवश्यक नहीं है कि पदच्युति याची द्वारा उल्लिखित कारणों से ही की जाए बल्कि वह दो अन्य आधारों पर भी की जा सकती है, अर्थात्, राज्यपाल में विश्वास खोना या राज्यपाल का संघ सरकार की नीतियों और विचारधारा के प्रतिकूल होना । इस प्रकार, इस सीमा तक सहमति है कि राज्यपाल को केवल किसी विधिमान्य कारण से हटाया जा सकता है और यह कि शारीरिक और मानसिक अक्षमता, भ्रष्टाचार और ऐसा व्यवहार जो राज्यपाल के लिए अशोभनीय है, हटाए जाने के लिए विधिमान्य आधार हैं । तथापि, इस बारे में असहमति है कि हटाने के लिए इसके अलावा और कौन से आधार हो सकते हैं । हमारा यह मत है कि अन्य आधार भी हो सकते हैं । कारणों को किन्हीं विनिर्दिष्ट शीर्षों के अधीन रखना संभव नहीं है । शक्ति का प्रयोग करने पर एकमात्र परिसीमा यह है कि वह विधिमान्य कारणों से होना चाहिए । यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि कौनसी बातें विधिमान्य कारण गठित करती हैं ।

41. तथापि, हमने यह दलील पहले ही नामंजूर कर दी है कि राज्यपाल को संघ सरकार की विचारधारा के अनुकूल होना चाहिए । अतः, किसी राज्यपाल को इस आधार पर नहीं हटाया जा सकता कि वह केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के अनुकूल नहीं है या वह उसने उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य करने से इनकार कर दिया है । यद्यपि राज्यपाल, मंत्री और महाधिवक्ता सभी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं तथापि, मंत्रियों और महाधिवक्ता के पदों और किसी राज्यपाल के पद के बीच मूलभूत अंतर है । राज्यपाल राज्य का सांविधानिक मुखिया होता है । वह संघ सरकार का न तो कर्मचारी और न ही कोई अभिकर्ता होता है तथा न

ही किसी राजनैतिक दल का भाग होता है । दूसरी ओर, एक मंत्री प्रधानमंत्री के दल का एक चुना हुआ सदस्य होता है । प्रधानमंत्री और एक मंत्री के बीच पूर्णतः राजनैतिक संबंध होता है । यद्यपि महाधिवक्ता लोक पद धारण करता है तथापि, संघ सरकार और महाधिवक्ता के बीच अधिवक्ता-मुवक्किल का तत्व होता है । अतः, किसी मंत्री या महाधिवक्ता के मामले में विश्वास का खोना प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए सुसंगत कसौटी होगी किन्तु किसी राज्यपाल के मामले में यह सुसंगत आधार नहीं है ।

(v) राष्ट्रपति के प्रसाद के प्रत्याहरण का न्यायिक पुनर्विलोकन

42. जब राज्यपाल सरकार के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और राष्ट्रपति के प्रसादानुसार हटाने की शक्ति किन्हीं शर्तों या निर्बंधनों द्वारा सीमित नहीं होती तब इसका परिणाम यह निकलता है कि इस शक्ति का प्रयोग किसी भी समय कोई कारण बताए बिना किया जा सकता है । तथापि, हटाने के लिए कारण होने की आवश्यकता और हटाने के लिए कारण प्रकट करने की आवश्यकता के बीच विभेद है । जबकि राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राज्यपाल को हटाने के संबंध में कारण प्रकट या सूचित करे, किन्तु यह अनिवार्य है कि कोई कारण अवश्य ही विद्यमान होना चाहिए । यदि हम उस आधार पर कार्यवाही नहीं करते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह पर ऐसा कोई आदेश कर सकेगा जो कि अभिव्यक्त रूप से मनमाना या बेतुका या असद्भाविक है । अतः, जबकि ऐसी परमाधिकार वाली शक्ति के प्रयोग द्वारा हटाए जाने के लिए कोई हेतुक या कारण प्रकट या समनुदेशित नहीं किया जाना है किन्तु हटाने के लिए कुछ विधिमान्य कारण अवश्य विद्यमान होना चाहिए । अतः, जबकि हम इस दलील को स्वीकार नहीं करते हैं कि अनुच्छेद 156 के अधीन कोई आदेश न्याय्य नहीं है किन्तु हम इस दलील को स्वीकार करते हैं कि किसी राज्यपाल को हटाने से पूर्व कोई कारण दर्शाने की आवश्यकता नहीं है और न ही राज्यपाल को इसकी कोई सूचना देने की आवश्यकता है ।

43. परम्परागत आंग्ल दृष्टिकोण यह था कि क्राउन की परमाधिकार की शक्तियां उन्मुक्त विवेकाधिकार प्रदान करती थीं जिन्हें न्यायालयों में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता था । लार्ड रस्किल ने **कौंसिल ऑफ सिविल सर्विस यूनियन्स** बनाम **मिनिस्टर फॉर द सिविल सर्विस**[1] वाले मामले में

---

[1] (1985) अपील केसेज़ 374.

परमाधिकार वाली इन शक्तियों को प्रगणित करने का प्रयास किया :–

> "परमाधिकार की शक्तियां जैसे कि संधियां करने, क्षेत्र की रक्षा करने, अनुकम्पा का परमाधिकार, सम्मान प्रदान करने, संसद् का विघटन और अन्य पदाधिकारियों के साथ-साथ मंत्रियों की नियुक्ति से संबंधित शक्तियों के बारे में मेरे विचार से न्यायिक पुनर्विलोकन की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि उनकी प्रकृति और विषयवस्तु ऐसी है कि वे न्यायिक प्रक्रिया के अधीन नहीं आती हैं । यह अवधारित करने के लिए न्यायालय का कोई स्थान नहीं है कि क्या कोई संधि की जाए या किसी विशिष्ट रीति में सशस्त्र बलों को तैयार किया जाए या संसद् को किसी एक तारीख की बजाय दूसरी तारीख को विघटित किया जाए ।"

तथापि, समकालीन आंग्ल विधि यह है कि सिद्धांततः ऐसे राजनैतिक प्रश्न और परमाधिकार की शक्ति का प्रयोग वैधता, युक्तिसंगता या प्रक्रियात्मक अनौचित्य के सिद्धांतों के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होगा । **आर. (बेनकाल्ट्) बनाम फारेन सेक्रेटरी**[1] वाले मामले में हाउस ऑफ लार्ड्स का विनिश्चय देखिए । वास्तव में, डी स्मिथ कृत ज्युडिशियल रिव्यू (छठा संस्करण, 2007 पृष्ठ 15) में यह कहा गया है :–

> "न्यायिक पुनर्विलोकन का विकास इस सीमा तक हो चुका है जहां यह कहना संभव है कि कोई भी शक्ति –चाहे वह कानूनी हो या परमाधिकार के अधीन – अब अंतर्निहित रूप से पुनर्विलोकनीय नहीं है । न्यायालयों पर लोक शक्ति का प्रयोग करने की रीति का न्यायनिर्णयन करने संबंधी उत्तरदायित्व का भार सौंपा गया है । जैसी कि हम अवेक्षा करेंगे, जब वैवेकिक शक्तियां सम्मिलित होती हैं तब भी वे न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्त नहीं होती हैं ।"

44. **राजस्थान राज्य** बनाम **भारत संघ** वाले (उपर्युक्त) मामले में इस न्यायालय ने (न्यायमूर्ति भगवती ने, जैसे कि वे तब थे) इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

> "किन्तु किसी प्रश्न में राजनीतिक पहलू होने मात्र से ही इस बात के लिए आधार नहीं बन जाता कि न्यायालय को, यदि उसमें सांविधानिक अवधारण का विवाद्यक उठाया गया है, संविधान के

---

[1] (2009) 1 अपील केसेज़ 453.

अधीन अपने कर्तव्य का पालन करने से संकोच करना चाहिए ।.... न्यायालय निराशा से अपने हाथ नहीं रोक सकता और यह घोषणा नहीं कर सकता कि न्यायालय दूर रहो । यदि यह प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या संविधान के अधीन किसी प्राधिकारी ने अपनी शक्ति की सीमाओं के भीतर रह कर कार्य किया है या उनका अतिक्रमण किया है तो न्यायालय द्वारा निश्चय ही इसका विनिश्चय किया जा सकता है । वास्तव में ऐसा करना उसका सांविधानिक दायित्व होगा ।... यह न्यायालय संविधान का अंतिम निर्वचनकर्ता है और यह अवधारित करने का नाजुक कार्य इसे सौंपा गया है कि सरकार की प्रत्येक शाखा को प्रदान की गई शक्ति क्या है, क्या वह सीमित है और यदि ऐसा है तो क्या सीमाएं हैं और क्या उस शाखा की किसी कार्यवाही से ऐसी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है । सांविधानिक मूल्यों को बनाए रखना और सांविधानिक सीमाओं को प्रवृत्त करना इस न्यायालय का कार्य है । विधि शासन का यही सार है ।... यदि संविधान के अधीन शक्ति का स्पष्ट रूप से अप्राधिकृत प्रयोग किया गया है तो हस्तक्षेप करना न्यायालय का कर्तव्य है । हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोकतांत्रिक मूल्यों का उपयोग करने और उन्हें बढ़ावा देने का कार्य इस न्यायालय को उतना ही सौंपा गया है जितना सरकार की अन्य शाखाओं को । सांविधानिक योजना में उन मूल्यों का पता लगाने और इस न्यायालय में पहुंचने वाले मामलों में उन्हें मूर्त रूप देने का कार्य इस न्यायालय का ही है ।..... न्यायालय इस दायित्व से नहीं हट सकता और उसे हटाया नहीं जाना चाहिए..... ।"

उक्त विनिश्चय में न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने (जैसे कि वे तब थे) इस प्रकार मत व्यक्त किया :–

"हो सकता है सरकार उन्हें प्रकट न करे किन्तु यदि प्रकट किए जाते हैं, जैसा कि उन्होंने अब किया है, वे इस बात को देखने के सीमित प्रयोजन के लिए उनकी न्यायिक संवीक्षा को नहीं रोक सकते कि क्या उन कारणों का प्रस्तावित कार्रवाई के साथ कोई तर्कसंगत संबंध है । मेरा झुकाव इस राय की ओर नहीं है कि लोगों की कचहरी में प्रस्तावित कार्रवाई के लिए कारणों को प्रकट करने में न्यायसंगति का श्रेय सरकार को प्राप्त नहीं हो सकता और साथ ही इस न्यायालय को इस बात का पता लगाने की सीमित शक्ति से इनकार नहीं किया जा सकता कि क्या उन कारणों का प्रस्थापित

कार्रवाई से कोई आवश्यक संबंध है या वे पूर्णतः असंगत हैं । इस दलील से कि यदि मंत्री को कारण बताने की आवश्यकता नहीं है तो यदि वह गलत कारण भी बता देता है तो उससे क्या फर्क पड़ता है । इस बात की उपेक्षा हो जाती है कि गलत कारण संभव संबंध को नष्ट कर सकते हैं और उनसे असद्भावना के आधार पर आदेश प्रदूषित हो सकता है ।"

किहोतो होल्लोहन बनाम **ज़ाचिल्हू**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"न्यायालयों द्वारा जिस सिद्धांत को लागू किया जाता है वह यह कि अंतिमता प्रदान करने वाले खंड के बावजूद न्यायालय इस बात की परीक्षा करने के लिए स्वतंत्र है कि प्राधिकारी की आक्षेपाधीन कार्रवाई उन शक्तियों के अधिकारातीत है अथवा नहीं जो कि उक्त प्राधिकारी को प्रदत्त की गई थी । ऐसी कार्रवाई इस कारण से अधिकारातीत हो सकती है कि उससे उस विधि के आज्ञापक उपबंध का उल्लंघन होता है जिसके द्वारा उस प्राधिकारी को ऐसी कार्रवाई करने के लिए शक्ति प्रदत्त की गई थी । वह प्राधिकारी को प्रदत्त शक्तियों के भी अधिकारातीत होगी यदि वह असद्भावना या बाहरी और असंगत विचारणाओं पर आधारित शक्ति के आभासी प्रयोग द्वारा दूषित है ।"

45. **आर. सी. पौडियाल** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में भारत संघ की ओर से अनुच्छेद 371-च के संदर्भ में यह दलील दी गई थी कि संघ में नए राज्यक्षेत्र के प्रवेश के लिए निबंधन और शर्तें उत्कृष्ट रूप से राजनैतिक प्रश्न हैं जिनके बारे में न्यायालय को विनिश्चय करने से इनकार कर देना चाहिए क्योंकि ये प्रश्न न्यायनिर्णयन प्रकृति के नहीं हैं । इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ ने अमरीकी उच्चतम न्यायालय के विभिन्न विनिश्चयों के प्रतिनिर्देश किया जिसमें **बेकर** बनाम **कार**[3] और **पॉवेल** बनाम **मैक्कोरमैक**[4] वाले मामले भी शामिल हैं जिनमें इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि क्या राजनैतिक झुरमुट का सिद्धांत न्यायिक शक्ति पर अवरोध लगाता है

---

[1] (1992) सप्ली. 2 एस. सी. सी. 651.

[2] (1994) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 324.

[3] 369 यू. एस. 186.

[4] 395 यू. एस. 486.

और यह अभिनिर्धारित किया कि कतिपय ऐसे संविवाद, जो पहले न्यायनिर्णयन से उन्मुक्त थे, इस सिद्धांत के प्रवर्तन को अन्य क्षेत्रों में संकुचित करने के अलावा न्याय्य हैं । इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

> "अनुच्छेद 2 के अधीन संघ में नए राज्यों को प्रवेश करने की शक्ति असंदिग्ध रूप से शक्ति की प्रकृति में ही बहुत व्यापक है और उसका प्रयोग आवश्यकतः पर्याप्त रूप से जटिल राजनीतिक मुद्दों द्वारा मार्गदर्शित होता है जिनमें से कई मुद्दे न्यायिक रूप से नियंत्रणीय नहीं होते हैं । किन्तु इस कारण से निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि अनुच्छेद संसद् को ऐसी अपुनर्विलोकनीय और अनियंत्रित शक्ति प्रदान करता है जो कि न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त है । यह शक्ति भारतीय संविधानवाद के मूल सिद्धांतों द्वारा सीमित है और वे निबंधन और शर्तें जिन्हें संसद अधिरोपित करना उपयुक्त समझे, संविधान के आधारभूत सिद्धांतों से असंगत और असमाधेय नहीं हो सकती हैं और वे सांविधानिक स्कीम का अतिक्रमण या उसे ध्वंस नहीं कर सकते हैं ।

(जोर देने के लिए रेखांकित)

46. इस न्यायालय ने अनेक मामलों में एक अन्य परमाधिकार शक्ति के प्रति निर्देश से - राष्ट्रपति/राज्यपाल की क्षमा इत्यादि प्रदान करने और दंडादेश के निलंबन, परिहार या लघूकरण की शक्ति - न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि की परीक्षा की । न्यायालय का मत यह है कि क्षमा प्रदान करने की शक्ति सांविधानिक स्कीम का एक भाग है और न कि कोई अनुग्रह का कार्य है, जैसा कि इंग्लैंड में है । यह एक ऐसा सांविधानिक उत्तरदायित्व है जिसका प्रयोग संदर्भ द्वारा अनुध्यात विवेकाधिकार के अनुसार किया जाना होता है यह विशेषाधिकार का विषय नहीं है बल्कि शासकीय कर्तव्य का पालन करने संबंधी विषय है । सभी लोक शक्तियां, जिनमें सांविधानिक शक्ति भी है, कभी भी मनमाने रूप से या असद्भावपूर्वक प्रयोक्तव्य नहीं होंगी । जबकि राष्ट्रपति या राज्यपाल तथ्यों की पर्याप्तता और क्षमा और प्रविलंबन के औचित्य का एकमात्र निर्णायक होता है किन्तु यह शक्ति संविधान में प्रगणित एक शक्ति होने के कारण इसकी परिसीमाएं स्वयं संविधान में पाई जानी चाहिएं । न्यायालय यह सुनिश्चित करने के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित शक्ति का प्रयोग करते हैं कि राष्ट्रपति ने अपना विनिश्चय करने से पूर्व सभी सुसंगत

सामग्री पर विचार कर लिया है । चूंकि जब कभी ऐसी शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो ऐसी शक्ति के प्रयोग का विस्तार व्यापकतम होता है इसलिए यह उपधारणा की जाती है कि राष्ट्रपति ने मामले के सभी पहलुओं पर वस्तुनिष्ठ रूप से विचार करने के पश्चात् समुचित रूप से और सावधानीपूर्वक कार्य किया । जहां कारण दिए जाते हैं वहां न्यायालय तब हस्तक्षेप कर सकता है जब कारण असंगत पाए जाते हैं । तथापि, जब कारण नहीं दिए जाते हैं तो न्यायालय केवल वहां हस्तक्षेप कर सकता है जहां शक्ति का प्रयोग अनुच्छेद 72 के अधीन शक्ति के पूर्ण विस्तार का गलत मूल्यांकन करके आत्म-खंडन द्वारा दूषित है या जहां कि विनिश्चय मनमाना विभेदकारी या असद्भाविक है (**मारू राम** बनाम **भारत संघ**[1], **केहर सिंह** बनाम **भारत संघ**[2] इत्यादि वाले मामले देखिए) । **ईपुरु सुधाकर** बनाम **आन्ध्र प्रदेश सरकार**[3] वाले मामले में हममें से एक (न्यायमूर्ति कपाड़िया) ने परमाधिकार शक्ति के प्रयोग और ऐसे प्रयोग के न्यायिक पुनर्विलोकन के बीच निम्न प्रकार संतुलन किया :–

> "इस बात का निर्धारण करने का नियंत्रणकारी कारक कि क्या परमाधिकार शक्ति का प्रयोग न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है, उसका स्रोत नहीं है बल्कि उसकी विषयवस्तु है । अब यह नहीं कहा जा सकता कि परमाधिकार शक्ति यथातथ्य न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्त है ।...... सभी विनिश्चयों के मूल्यांकन के लिए विधि का नियम ही आधार होता है । विधि के नियम की उच्चतम क्वालिटी, उसकी ऋजुता और विधिक निश्चितता होती है । वैधता का सिद्धांत विधि के नियम में एक केन्द्रीय व्यवस्था है । प्रत्येक परमाधिकार विधि के नियम के अध्यधीन होना चाहिए । राजनैतिक समीचीनता के आधारों पर उस नियम के साथ समझौता नहीं किया जा सकता । इन विचारणाओं के आधार पर कार्यवाही करना विधि के नियम के मूल सिद्धांतों का विनाशक होगा और यह एक खतरनाक पूर्वोदाहरण स्थापित करने की कोटि में आएगा । विधि के नियम के सिद्धांत में 'विधि के अनुसार सरकार' की अपेक्षा सम्मिलित है । 'विधि के अनुसार' सरकार की प्रवृत्ति में यह अपेक्षित है कि परमाधिकार का प्रयोग ऐसी रीति में किया जाना चाहिए जो ऋजुता और निश्चितता

---

[1] [1981] 4 उम. नि. प. 165 = (1981) 1 एस. सी. सी. 107.

[2] [1989] 2 उम. नि. प. 318 = (1989) 1 एस. सी. सी. 204.

[3] (2006) 8 एस. सी. सी. 161.

के मूलभूत सिद्धांत से संगत है ।"

47. अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग एक ऐसी कार्यपालक शक्ति होने के कारण जिसका प्रयोग मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह पर किया जाता है, प्रश्न यह है कि अनुच्छेद 74 के खंड (2) में अंतर्विष्ट वर्जन लागू होगा अथवा नहीं । उक्त खंड में यह उपबंध है कि इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या कोई सलाह दी गई थी और यदि दी गई थी तो क्या दी गई थी । यह खंड **एस. आर. बोम्मई** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ की विषयवस्तु था । इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 74(2) में मात्र इस प्रश्न की जांच करना वर्जित है कि क्या मंत्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को कोई सलाह दी गई थी, और यदि दी गई थी तो क्या दी गई थी किन्तु इसमें उस सामग्री की संवीक्षा करना वर्जित नहीं है जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने आदेश किया है । इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि जबकि राष्ट्रपति के नाम से जारी किए गए किसी आदेश को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि वह मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के प्रतिकूल था या वह मंत्रियों से सलाह अभिप्राप्त किए बिना जारी किया गया था, इससे न्यायालय भारत संघ से यह अपेक्षा करने से वर्जित नहीं हो जाता कि वह न्यायालय को वह सामग्री प्रकट करे जिसके आधार पर राष्ट्रपति का अपेक्षित समाधान हुआ था । अनुच्छेद 74(2) में अंतर्विष्ट वर्जन न्यायालय द्वारा यह जांच करने के मार्ग में बाधक नहीं होगा कि कोई ऐसी सामग्री थी अथवा नहीं जिसके आधार पर ऐसी सलाह दी गई थी, क्या ऐसी सामग्री ऐसी सलाह देने के लिए सुसंगत थी और क्या सामग्री ऐसी थी कि कोई भी युक्तिसंगत व्यक्ति उस निष्कर्ष पर पहुंच सकता था जिसे चुनौती दी गई थी । इसलिए, यद्यपि सामग्री की पर्याप्तता को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता था तथापि, ऐसी सामग्री के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष की विधिसम्मतता न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन थी ।

48. न्यायिक पुनर्विलोकन का विस्तार और उसकी गहनता पुनर्विलोकनाधीन मामले के प्रति निर्देश पर निर्भर करेगी और भिन्न-भिन्न होगी । जैसा कि लार्ड स्टेन ने **एक्स पार्टे डेली**[2] वाले मामले में मत व्यक्त

---

[1] (1994) 3 एस. सी. सी. 1.

[2] (2001) 3 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 433.

किया है, विधि की दृष्टि से संदर्भ ही सब कुछ होता है और पुनर्विलोकन की प्रबलता पुनर्विलोकन की विषयवस्तु पर निर्भर करेगी । उदाहरणार्थ, प्रशासनिक कार्रवाई, विधानों और सांविधानिक संशोधनों के संबंध में न्यायिक पुनर्विलोकन अनुज्ञेय है । किन्तु किसी एक मामले के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन का विस्तार और उसकी परिधि किसी दूसरे मामले के न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से भिन्न होगी । प्रशासनिक कार्रवाई के न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए असद्भाव आधार हो सकता है किन्तु वह विधानों या सांविधानिक संशोधनों के न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए आधार नहीं हो सकेगा । किसी मंत्री या महाधिवक्ता के मामले में प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए विश्वास का खोना एक सुसंगत आधार हो सकता है । मंत्री या महाधिवक्ता की विचारधारा का सरकार की नीतियों या विचारधारा के प्रतिकूल होना भी एक आधार हो सकता है । दूसरी ओर, किसी राज्यपाल की दशा में प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए विश्वास का खोना या राज्यपाल के विचारों का संघ सरकार के विचारों के प्रतिकूल होना प्रसाद के प्रत्याहरण के लिए आधार नहीं होंगे । मंत्रियों और महाधिवक्ता के मामले में प्रत्याहरण के लिए कारण राज्यपाल की तुलना में व्यापक हैं । परिणामस्वरूप, प्रसाद के प्रत्याहरण का न्यायिक पुनर्विलोकन किसी राज्यपाल की दशा में सीमित होता है जबकि किसी मंत्री या महाधिवक्ता की दशा में वस्तुतः बिल्कुल नहीं होता है ।

49. अनुच्छेद 156(1) में यह उपबंध है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । अनुच्छेद 74 को ध्यान में रखते हुए, राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है । इसलिए, यद्यपि अनुच्छेद 156(1) के अधीन पद से हटाना राष्ट्रपति के प्रसादानुसार होता है तथापि, ऐसे प्रसाद का प्रयोग इस अपेक्षा द्वारा निर्बंधित है कि वह मंत्रिपरिषद् की सलाह पर होना चाहिए । क्या राज्यपाल का हटाया जाना न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है ? अनुच्छेद 156(1) के अधीन कारण देने की आवश्यकता या सूचना देने की आवश्यकता को अभिमुक्ति दी गई है किन्तु अनुच्छेद 156(1) द्वारा ऋजुपूर्वक और युक्तियुक्त रूप से कार्य करने की आवश्यकता को अभिमुक्ति प्रदान नहीं की जा सकती । राष्ट्रपति को अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते समय ऐसी रीति में कार्य करना चाहिए जो कि मनमानी, स्वेच्छाचारी या अयुक्तियुक्त नहीं है । प्रसाद के प्रत्याहरण को चुनौती दिए जाने की दशा में न्यायालय आवश्यक रूप से यह उपधारणा करेगा कि ऐसा

बाध्यकारी कारणों से किया गया है । परिणामस्वरूप, जहां व्यथित व्यक्ति अपने हटाए जाने के संबंध में मनमानेपन या असद्भाव का प्रथमदृष्टया दृष्टांत साबित करने में समर्थ नहीं होता है वहां न्यायालय उसमें हस्तक्षेप करने से इनकार करेगा । तथापि, जहां मनमानेपन या असद्भाव का प्रथमदृष्टया मामला साबित कर दिया जाता है वहां न्यायालय संघ सरकार से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह उसका इस बाबत समाधान करने के लिए अभिलेख/सामग्री प्रस्तुत करे कि प्रसाद का प्रत्याहरण उचित और बाध्यकारी कारणों से हुआ था । यह मामले के तथ्यों पर निर्भर करेगा कि कौन सी बातें उचित और बाध्यकारी कारण गठित करती हैं । केन्द्र-राज्य संबंधों को बनाए रखने में राज्यपाल के कृत्यों की प्रकृति और ऐसे मामलों में सरकार के पास उपलब्ध नम्यता को ध्यान में रखते हुए यह कहने की आवश्यकता नहीं है उसमें तब तक कोई हस्तक्षेप नहीं होगा जब तक कि काफी ठोस मामला साबित नहीं कर दिया जाता है । अतः, स्थिति यह है कि विनिश्चय न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है किन्तु बहुत सीमित विस्तार तक ।

50. हम अपने निष्कर्षों का सार निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं :–

(i) अनुच्छेद 156(1) के अधीन राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । इसलिए, राष्ट्रपति राज्यपाल को किसी भी समय कोई कारण बताए बिना और कारण दर्शाने का कोई अवसर दिए बिना पद से हटा सकता है ।

(ii) यद्यपि प्रसाद के जारी न रहने के लिए, जिसके परिणामस्वरूप हटाया जाता है, कोई कारण देने की आवश्यकता नहीं है तथापि, अनुच्छेद 156(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग मनमाने, स्वेच्छाचारी या अयुक्तियुक्त रीति में नहीं किया जा सकता है । इस शक्ति का प्रयोग विरल और आपवादिक परिस्थितियों में विधिमान्य और बाध्यकारी कारणों से करना होगा । बाध्यकारी कारण वहां तक निर्बंधित नहीं है जो कि याची द्वारा प्रगणित किए गए हैं (अर्थात्, शारीरिक/मानसिक असमर्थता, भ्रष्टाचार और ऐसा व्यवहार जो राज्यपाल के लिए अशोभनीय हो) किन्तु उनका विस्तार व्यापक है । यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि बाध्यकारी कारण कौन से होंगे ।

(iii) किसी राज्यपाल को इस आधार पर नहीं हटाया जा सकता

2010(5) eILR(PAT) SC 145

कि वह संघ सरकार या केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की नीतियों और विचारधारा के अनुकूल नहीं है । न ही उसे इस आधार पर हटाया जा सकता है कि संघ सरकार ने उसमें विश्वास खो दिया है । अतः, इससे यह परिणाम निकलता है कि केन्द्र में सरकार में परिवर्तन होना, नई सरकार की पसन्द के अनुसार अन्य व्यक्तियों के लिए मार्ग खोलने हेतु पदासीन राज्यपालों को हटाने का कोई आधार नहीं है ।

(iv) चूंकि कारण दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं है इसलिए प्रसाद के प्रत्याहरण के परिणामस्वरूप पद से हटाए जाने के बारे में यह उपधारणा की जाएगी कि वह विधिमान्य है और वह केवल सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होगा । यदि व्यथित व्यक्ति प्रथमदृष्ट्या यह प्रदर्शित करने में समर्थ होता है कि उसका हटाया जाना या तो मनमाना, असद्भाविक, स्वेच्छाचारी या सनकपूर्ण था तो न्यायालय संघ सरकार से यह अपेक्षा करेगा कि वह न्यायालय के समक्ष वह सामग्री प्रकट करे जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने प्रसाद को प्रत्याहृत करने का विनिश्चय किया था । यदि संघ सरकार कोई कारण प्रकट नहीं करती है या प्रकट किए गए कारण असंगत, मनमाने, सनकपूर्ण या असद्भाविक पाए जाते हैं तो न्यायालय हस्तक्षेप करेगा । तथापि, न्यायालय मात्र इस आधार पर हस्तक्षेप नहीं करेगा कि कोई भिन्न दृष्टिकोण संभव है या सामग्री अथवा कारण अपर्याप्त हैं ।

51. रिट याचिका का तदनुसार निपटारा किया जाता है ।

2004 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 663

52. 2004 की रिट याचिका (सिविल) सं. 296 में हमारे विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए यह अंतरण याचिका खारिज की जाती है ।

रिट याचिका का तदनुसार निपटारा किया गया और अंतरण याचिका खारिज की गई ।

ग्रो.